PRAMOD PANDEY

भय

कारण और उपचार

(श्रीमां-श्रीअरविंद के वचनों से संकलित)

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिच्चेरी

भय

कारण और उपचार

(श्रीमां-श्रीअरविंद के वचनों से संकलित)

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : नवम्बर १९८७
द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण : १९९१

मूल्य रु. १७.००

ISBN 81-7060-059-6

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

विषय-सूची

[भय मानवजाति ही नहीं प्राणी मात्र की सबसे भयंकर और व्यापक बीमारियों में से एक है। यहां इसके बारे में माताजी और श्रीअरविंद के कुछ वचन संकलित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त मृत्यु के भय के बारे में एक छोटी-सी कहानी भी दी जा रही है। माताजी के वचनों पर उनका प्रतीक और श्रीअरविंद के वचनों पर उनका प्रतीक अंकित है। —सं०]

भय

कारण और उपचार

संक्षेप में

भय और चिंता इच्छा-शक्ति के विकृत रूप हैं। तू जिस चीज से डरता है, जिसके बारे में सोचता रहता है, मन में बार-बार जिसका राग अलापता है, उसे लाने में तू सहायता देता है। अगर जाग्रत् अवस्था से ऊपर तेरी इच्छा-शक्ति उसे मार भगाये फिर भी तेरा अवमानस हमेशा उसकी इच्छा करता रहता है और तेरा अवचेतन मानस ज्यादा प्रबल, विस्तृत और कार्य संपादित करने में तेरी जाग्रत् शक्ति और बुद्धि की अपेक्षा ज्यादा बलवान् है। लेकिन आत्मा इन दोनों से अधिक बलवान् है। आशा और भय से अपनी आत्मा की भव्य स्थिरता और चिंतामुक्त प्रभुत्व में शरण ले।

Sri Aurobindo

भय – प्राणमय लोक का सृजन

उच्चतर प्रकृति में कोई भय नहीं होता। भय प्राणमय लोक की रचना है, अज्ञान की सहजवृत्ति है, संकट का भाव है जिसमें प्राणिक उग्र प्रतिक्रिया होती है जो वस्तुओं की ठीक समझ का स्थान ले लेती और सामान्यतः उसे रोकती या विकृत करती है। उसे विरोधी शक्तियों का आविष्कार भी माना जा सकता है।

*

हां, भय काल्पनिक आतंक पैदा कर देता है। और सचमुच संकट हो भी तो डर कोई मदद नहीं करता। वह बुद्धि-भ्रम पैदा कर देता है, सुधबुध खो देता है और तुम्हें करने लायक ठीक चीज देखने से रोकता है।

*

हां, मेरे बालक, इन प्राणिक सत्ताओं ने संसार को जो उपहार दिये हैं उनमें डर सबसे सुन्दर उपहार है, यह उनका सबसे पहला और सबसे सशक्त उपहार है। डर के द्वारा ही वे मनुष्यों को पकड़ में रखते हैं। सबसे पहले वे डर की गति पैदा करते हैं, डर की गति तुम्हें कमजोर बना देती है और फिर जरा-जरा करके तुम्हें उनके बस में सौंप देती है। और यह कोई युक्तियुक्त डर भी नहीं होता; यह एक ऐसा डर होता है जो तुम्हें पकड़ लेता है, तुम्हारी समझ में नहीं आता कि क्यों, कोई चीज तुम्हें कंपा देती है, तुम्हें चिंता देती है, तुम नहीं जानते कि क्यों, उसका कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं होता, यह उनकी क्रिया होती है।

*

भय दासता है, काम आजादी है, साहस विजय है।

भय—निश्चेतना का व्यापार

भय निश्चेतना का व्यापार है। यह एक प्रकार की मनोव्यथा है जो अज्ञान से आती है। तुम किसी चीज का स्वभाव नहीं जानते, उसका प्रभाव नहीं जानते, यह नहीं जानते कि क्या होगा, अपनी क्रियाओं का परिणाम नहीं जानते, तुम बहुत सारी चीजें नहीं जानते और यह अज्ञान भय ले आता है। तुम जिसे नहीं जानते उससे डरते हो। एक बच्चे को ले लो, अगर उसे किसी ऐसे के आगे लाया जाये जिसे वह नहीं जानता (मैं ऐसे बच्चे की बात नहीं कर रही जिसकी आंतरिक चेतना जागी हुई हो। मैं सामान्य बच्चे की बात कह रही हूं)—तुम उसे किसी ऐसे आदमी के सामने लाते हो जिसे वह नहीं जानता। उसमें पहली गति हमेशा भय की होगी। बहुत ही विरले बच्चे—और उनमें और ही चेतना होती है—साहसी होते हैं, यह एक तरह का आशंका का मिश्रण, एक प्रकार की सहजवृत्ति हो सकती है। जब तुम सहजवृत्ति से अनुभव करते हो कि कोई खतरनाक चीज है और तुम्हारे पास उसके इलाज के साधन नहीं हैं, जब तुम्हारी समझ में नहीं आता कि उससे अपनी रक्षा कैसे की जाये तो तुम्हें डर लगता है। मेरा ख्याल है कि भय के अनगिनत कारण होते हैं लेकिन हर हालत में यह निश्चेतना की एक गति होती है।

जो जानता है उसे डर नहीं लगता। जो पूरी तरह जाग्रत् है, जो पूरी तरह सचेतन है और जानता है उसे डर नहीं लगता। हमेशा किसी अंधेरी चीज को ही डर लगता है . . .।

जब डर आता है उस समय अगर तुम उस पर चेतना, ज्ञान, शक्ति, प्रकाश डाल सको तो तुम पूरी तरह उसका उपचार कर सकते हो। ईसाई धर्म मानता है कि भय इसलिये आता है कि हमने अदन के बाग में सेब खाया था, कि ज्ञान के साथ भय आता है और धरती पर भय ही समस्त जीवन पर, सब मनुष्यों पर शासन करता है। यहां मैं अपनी युक्ति दोहराती हूं कि जानवर भी तो डरते हैं, उन्होंने कोई पाप नहीं किया है, उन्होंने वह सेब नहीं खाया था, इसलिये उनमें तो डर न होना चाहिये! यह एक प्रकार की अर्द्ध-चेतना है जो

अज्ञानभरी सहजवृत्ति से मिली हुई है जो खतरे पर जोर देती है और साथ ही उसका उपचार भी नहीं जानती। लेकिन निश्चय ही तथ्य यह है कि विरोधी सत्ताएं, प्राणमय जगत् की सत्ताएं जो भगवान् के काम के विरुद्ध लड़ाई करती हैं, वे भय का बहुत अधिक उपयोग करती हैं। उसीके द्वारा वे मनुष्यों पर जबर्दस्त पकड़ रख सकती हैं। और अकेली वे ही नहीं हैं, राजनीतिक और धार्मिक साधन भी इस प्रकार के हैं। ऐसे धर्म हैं जो अपने श्रद्धालुओं पर भय के द्वारा ही अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं, मृत्यु का डर, मृत्यु के बाद क्या होगा उसका डर और वे सब महान् विपदाएं जो मृत्यु के बाद तुम्हारी प्रतीक्षा करेंगी यदि तुम उनके बताये गये विधानों का आंख मूंदकर अनुसरण न करो।

यह भय वैर भाव से भी आ सकता है, यानी किसी चीज के साथ सादृश्य के अभाव से। कुछ लोग विशेष रूप से आग से डरते हैं, कुछ खास तौर पर पानी से डरते हैं, औरों में किसी एक या दूसरे जानवर का भय होता है। यह प्राणिक स्पंदनों में असामंजस्य से आता है और फिर वह शरीर की निश्चेतना में भय में अनूदित हो जाता है। शरीर बहुत ही अधिक निश्चेतन चीज है। उसे जरा-सी चेतना देने के लिये कितना अधिक काम करना पड़ता है! वह यंत्रवत्, आदतों के अनुसार चलता है। वह अत्यंत निश्चेतन है।

*

हमें सांप, बिच्छू आदि प्राणियों से जो प्रतिक्षेप होता है उसका कारण क्या है ?

यह कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है कि तुम इस या उस प्रतिक्षेप से डरो। योग की आधारभूत उपलब्धियों में से एक है प्रतिक्षेपं या घृणा का बिल्कुल न होना।

तुम जिस प्रतिक्षेप की बात कर रहे हो वह भय से आता है, अगर डर न हो तो उसका अस्तित्व न रहेगा। यह भय किसी कारण पर आधारित नहीं होता, यह सहज वृत्तिमूलक है। यह व्यक्तिगत नहीं, जातिगत है। यह एक

व्यापक सुझाव है और सारी मानव चेतना की चीज है। जब तुम मानव शरीर धारण करते हो तो उसके साथ-ही-साथ इन व्यापक सुझावों, जातिगत विचारों, मनुष्यजाति के जातीय अनुभवों को, आकर्षण, विकर्षण, भय को भी स्वीकार करते हो।

लेकिन एक और दृष्टिकोण से आकर्षण और विकर्षण के स्वभाव में कोई बहुत ही व्यक्तिगत चीज होती है क्योंकि ये गतियां हर एक के लिये एक-सी नहीं होतीं और अधिकतर अलग-अलग लोगों में प्राण के स्पंदनों के गुण पर निर्भर होती हैं। ऐसे लोग हैं जिन्हें न केवल सांप आदि जीवों से घृणा नहीं होती बल्कि उनके लिये एक तरह का प्राणिक आकर्षण और अभिरुचि होती है।

संसार ऐसी चीजों से भरा है जो सुखकर या सुंदर नहीं हैं, लेकिन यह कोई कारण नहीं है कि आदमी सारे समय इन चीजों के प्रति घृणा अनुभव करता रहे। मानव मन को क्षुब्ध और कमजोर करनेवाले सभी भाव—कतराना, घृणा, भय, ये सभी ऐसे हैं जिनपर विजय पायी जा सकती है। योगी को ऐसी प्रतिक्रियाओं पर विजय पानी चाहिये क्योंकि योग में लगभग पहला कदम ही यह मांग करता है कि तुम सभी सत्ताओं, वस्तुओं और घटनाओं के आगे पूर्ण समता बनाये रखो। तुम्हें हमेशा स्थिर-अचंचल, अप्रभावित और अविचलित रहना चाहिये। योगी की शक्ति इसी में है। पूर्ण स्थिरता और अचंचलता भयंकर, क्रूर पशुओं के साथ सामना होने पर उन्हें भी निःशस्त्र कर सकती है।

विकर्षण अज्ञान की एक गति है। वह आत्मरक्षा की सहजवृत्तिमूलक क्रिया है। लेकिन जो चीज तुम्हें किसी संकट से बचाती है वह बिना समझे-बूझे पीछे हटना नहीं बल्कि ज्ञान है, संकट की प्रकृति का ज्ञान और उसे हटा देने या रद्द कर देनेवाले साधनों का सचेतन उपयोग। जिस अज्ञान से ये गतियां उठती हैं वह सामान्य मानव अवस्था है लेकिन उसे जीता जा सकता है क्योंकि हम अनगढ़ मानव प्रकृति के दास नहीं हैं जिसमें से बाहरी प्रकृति शुरू होती है और जो हमारे चारों ओर है।

अज्ञान बढ़ती हुई चेतना द्वारा तितर-बितर किया जा सकता है। तुम्हें जिस चीज की जरूरत है वह है चेतना और हमेशा अधिक चेतना, शुद्ध, सरल और

प्रकाशमय चेतना। इस पूर्णकृत चेतना के प्रकाश में चीजें वैसी दिखलायी देती हैं जैसी वे हैं, वैसी नहीं जैसी वे दीखना चाहती हैं। यह एक पर्दे की भांति है जो ईमानदारी के साथ जैसे-जैसे चीजें होती जाती हैं, उन्हें अंकित करता जाता है। तुम वहां देखते हो कि क्या प्रकाशमय है और क्या अंधेरा, क्या सीधा है और क्या वक्र। तुम्हारी चेतना एक पर्दा या आईना बन जाती है, लेकिन यह तभी जब तुम चिंतन-मनन की अवस्था में होते हो, केवल एक अवलोकन करनेवाले; जब तुम सक्रिय होते हो तो यह सर्चलाइट की तरह होती है। अगर तुम किसी जगह पर किसी चीज को प्रकाशमय रूप में देखना और उसके भीतर प्रवेश करके उसकी परीक्षा करना चाहो तो बस तुम्हें इस सर्चलाइट को उसपर डालना होगा।

इस पूर्ण चेतना को प्राप्त करने का तरीका है अपनी वास्तविक चेतना को उसके वर्तमान खांचों और सीमाओं से आगे बढ़ाना, उसे शिक्षित करना, उसे दिव्य प्रकाश की ओर खोलना और दिव्य प्रकाश को उसके अंदर खुलकर आजादी से काम करने देना। लेकिन प्रकाश अपना पूरा और अबाध काम तब ही कर सकता है जब तुम सभी लालसा और भय से पिंड छुड़ा सको, जब तुम्हारे अंदर कोई मानसिक पसंद न हो, प्राणिक अभिरुचि न हो, भौतिक शंकाएं और संकोच या आकर्षण तुम्हें अंधकारमय न कर दें या बांधें नहीं।

*

जो जानता है उसे डर नहीं लगता।

मनुष्यों को डर क्यों लगता है ?

आदमी को डर क्यों लगता है ?

मेरा ख्याल है, इसलिये कि तुम अहंकारपूर्ण हो। तीन कारण हैं। पहला है, अपनी सुरक्षा के बारे में बहुत अधिक चिंता। दूसरा, जिस चीज को तुम नहीं जानते वह हमेशा एक बेचैनी का-सा भाव देती है जो चेतना में भय में अनूदित हो जाती है और सबसे बढ़कर यह कि तुम्हारे अंदर भगवान् पर सहज विश्वास की आदत नहीं है। अगर तुम चीजों को काफी गहराई के साथ देखो तो यही सच्चा कारण होता है। ऐसे लोग होते हैं जो यह नहीं जानते कि भगवान् का अस्तित्व है भी। तुम उनसे दूसरे शब्दों में कह सकते हो, ''तुम्हें अपनी नियति पर विश्वास नहीं है'' या ''तुम कृपा के बारे में कुछ नहीं जानते''—या कुछ भी, तुम जैसे चाहो कह सकते हो, लेकिन समस्या की जड़ विश्वास के अभाव में ही है। अगर तुम्हें हमेशा यह लगता है कि सभी परिस्थितियों में वही होता है जो सबसे अच्छा है, तो तुम्हें डर न लगेगा।

भय की पहली गति यंत्रवत् चली आती है। एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक था जो साथ ही मानस-शास्त्री भी था। (इस समय मुझे उसका नाम याद नहीं आ रहा), उसने अपनी आंतरिक चेतना विकसित की थी लेकिन वह उसे परखना चाहता था। उसने एक परीक्षण शुरू किया। वह जानना चाहता था कि क्या चेतना के आंतरिक साधनों से शरीर की प्रतिवर्ती क्रियाओं पर नियंत्रण किया जा सकता है। (संभवतः वह ऐसा करने के लिये काफी दूर तक नहीं गया क्योंकि यह किया जा सकता है, बहरहाल, उसके लिये यह असंभव था) हां, तो वह एक चिड़ियाघर में गया जहां सांप कांच के पिंजरे में बंद रखे जाते थे। वहां एक विशेष रूप से आक्रामक नाग था। जब वह निद्रा में न हो तो प्रायः हमेशा ही क्रोध से भरा रहता था क्योंकि वह कांच में से उन लोगों को देख सकता था और यह चीज उसे बहुत अधिक विक्षुब्ध करती थी। हमारा वैज्ञानिक जाकर पिंजरे के आगे खड़ा हो गया। वह भली-भांति जानता था कि

पिंजरा इस तरह से बना है कि सांप उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता, वह कभी कांच को न तोड़ सकेगा और इस कारण सांप के आक्रमण का कोई भय न था। बाहर से खड़ा-खड़ा वह आवाजें और संकेत कर-कर के सांप को उत्तेजित करने लगा। नाग क्रुद्ध होकर कांच के साथ जोर से टक्कर लेता था और जब-जब वह टक्कर लेता था तब-तब वैज्ञानिक, अपनी आंखें बंद कर लेता था! हमारे मानस शास्त्री ने अपने-आपसे कहा, "देखो, मैं जानता हूं सांप कांच के बाहर नहीं आ सकता, फिर मैं अपनी आंखें क्यों मूंद लेता हूं?" हमें यह जानना चाहिये कि प्रतिक्रियाओं को जीत सकना कठिन है। एक सुरक्षा का भाव है और अगर तुम्हें यह लगे कि तुम अपनी रक्षा नहीं कर सकते तो तुम्हें डर लगता है। लेकिन भय की वह गति जो पलक झपकाने से प्रकट होती है वह मानसिक या प्राणिक भय नहीं है। यह शरीर के कोषाणुओं के अंदर का भय है क्योंकि उनपर यह छाप नहीं डाली गयी है कि उन्हें कोई खतरा नहीं है, वे उसका सामना करना नहीं जानते। यह इसलिये कि आदमी ने योग नहीं किया है। योग करो तो तुम खुली आंखों देख सकोगे, तुम उन्हें बंद न करोगे। तुम उन्हें इसलिये बंद न करोगे क्योंकि तुम किसी और को बुला सकते हो, और वह "कोई और" व्यक्ति में उस भागवत उपस्थिति का भाव है जो अन्य सब चीजों से ज्यादा सशक्त है।

यही एकमात्र तरीका है जिससे तुम अपने-आपको भय से मुक्त कर सकते हो।

*

तूफान में शांति, प्रयास में अचंचलता, समर्पण में आनंद, आलोकमय श्रद्धा और तुम प्रभु की सतत उपस्थिति के बारे में अभिज्ञ हो जाओगे।

मानसिक, प्राणिक और भौतिक भय

मानसिक, प्राणिक और भौतिक भय के बीच क्या फर्क है ?

अगर तुम अपने मन की गतिविधि के बारे में, अपने प्राण की गतिविधि के बारे में, अपने शरीर की गतिविधि के बारे में सचेतन हो तो तुम यह जानते हो।

मानसिक बहुत सरल है : ये विचार हैं। उदाहरण के लिये तुम सोचना शुरू करते हो कि यह बीमारी है और यह बीमारी बहुत संक्रामक है। और शायद तुम्हें यह हो जाये और अगर तुम्हें यह हो जाये तो बड़ी मुसीबत होगी। यह न होने पाये इसके लिये क्या किया जाये ? . . . मन कांपने लगता है : कल क्या होगा ? आदि।

प्राण, तुम अनुभव करते हो। तुम इसे अपने संवेदनों में अनुभव करते हो। अचानक तुम्हें गरमी लगने लगती है, तुम्हें ठंड लगने लगती है। पसीना छूटने लगता है। और तरह-तरह की अप्रिय चीजें होती हैं। तब तुम्हें हृदय की धड़कन तेज होती हुई मालूम होती है और अचानक तुम्हें बुखार आ जाता है। रक्त-संचार बंद हो जाता है और तुम ठंडे पड़ जाते हो।

हां, भौतिक रूप से, जब तुम्हारे अंदर बाकी दो भय नहीं रह जाते तो तुम भौतिक भय के बारे में अभिज्ञ हो सकते हो, साधारणतः बाकी दो बहुत अधिक सचेतन होते हैं। वे भौतिक भय को तुमसे छिपाते हैं, लेकिन जब तुम्हारे अंदर कोई मानसिक या प्राणिक भय नहीं रहता तब तुम उसके बारे में अभिज्ञ हो जाते हो। यह एक अजीब, छोटा-सा स्पंदन है जो तुम्हारे कोषाणुओं में घुस जाता है और वे उस तरह कांपने लगते हैं। लेकिन कोषाणु तेज धड़कनेवाले हृदय की तरह नहीं होते। यह चीज स्वयं कोषाणुओं में होती है : वे जरा से कंपन से कांपते हैं और इसपर नियंत्रण करना बहुत कठिन होता है। फिर भी इसे नियंत्रित किया जा सकता है।

अपने-आपको भयमुक्त करना—बहुत-से तरीके

जब हमें डर लगे तो क्या करना चाहिये ?

यह इस पर निर्भर है कि तुम हो कौन, अपने-आपको भयमुक्त करने के कई तरीके हैं।

अगर तुम्हारा अपनी चैत्य सत्ता के साथ कुछ संबंध है तो तुम्हें उसे तुरंत बुलाना चाहिये और चैत्य प्रकाश में चीजों को फिर से व्यवस्था में रख देना चाहिये, यह सबसे अधिक समर्थ उपाय है।

जब तुम्हारे अंदर यह चैत्य संपर्क न हो फिर भी वह बुद्धिप्रधान सत्ता हो, यानी जब तुम्हारे अंदर तर्क-संगत मन की स्वतंत्र गति होती हो तो तुम अपने-आपसे बोलने और तर्क करने के लिये उसका उपयोग कर सकते हो, जैसे कोई बच्चे के साथ बोलता है। उसे समझा सकते हो कि भय अपने-आपमें बुरी चीज है और अगर संकट है भी तो संकट का भय के साथ सामना करना बहुत बड़ी मूर्खता है। अगर सचमुच कोई संकट है तो साहस की शक्ति से ही उससे पार पाने की आशा की जा सकती है। अगर तुम्हारे अंदर जरा-सा भय भी है तो बस बंटाढार। तो इस तरह की तर्कणा से, तुम्हारा जो भाग डरता है उसे विश्वास दिलाओ कि उसे डरना बंद कर देना चाहिये।

अगर तुम्हारे अंदर श्रद्धा है और तुम भगवान् को समर्पित हो तो बहुत ही सरल तरीका है, यह कहना : ''वर दे कि तेरी इच्छा पूर्ण हो। मुझे कोई चीज भयभीत नहीं कर सकती क्योंकि 'तू' ही मेरे जीवन का मार्गदर्शन कर रहा है। मैं 'तेरा' हूं और 'तू' ही मेरे जीवन का मार्गदर्शन कर रहा है।'' इसकी क्रिया तुरंत होती है। सभी तरीकों से यह सबसे अधिक प्रभावकारी है : वस्तुतः यही है। यानी तुम्हें वास्तव में भगवान् के प्रति अर्पित होना चाहिये। अगर तुम्हारे अंदर यह है तो इसकी क्रिया तुरंत होती है; समस्त भय किसी सपने की तरह तुरंत गायब हो जाता है। और खराब प्रभाववाली सत्ता भी भय के साथ स्वप्न की तरह विलीन हो जाती है। तुम्हें उसे पूरे वेग से दुम दबाकर भागते देखना चाहिये।

ऐसे लोग होते हैं जो स्वभावतः बलवान् प्राण होने के कारण योद्धा होते हैं जो तुरंत अपना सिर ऊंचा उठाकर कहते हैं, "ओ, यह लो, यह रहा शत्रु, हम इसे नीचा दिखायेंगे।" लेकिन इसके लिये आदमी के अंदर ज्ञान और बहुत अधिक प्राणिक बल होना चाहिये। तुम्हें प्राणिक दृष्टि से भीमकाय होना चाहिये। लेकिन यह हर एक के लिये संभव नहीं है।

तो, बहुत-से अलग-अलग रास्ते हैं। वे सभी अच्छे हैं, यदि तुम उस मार्ग का उपयोग करना जानो जो तुम्हारे अनुकूल हैं।

जब मैं जिम्नास्टिक्स में छलांग मारना चाहता हूं तो मुझे डर लगता है ऐसा क्यों होता है ?

आह ! मेरे बच्चो, यह निर्भर है . . .। तुम्हें दो अलग-अलग चीजों में फर्क करना चाहिये और उनके साथ बहुत भिन्न रूप से व्यवहार करना चाहिये।

अगर यह प्राणिक भय है तो तुम्हें उसके साथ तर्क-वितर्क करना चाहिये, फिर भी आगे बढ़ते रहना चाहिये। लेकिन अगर यह भौतिक सहजवृत्ति है (यह संभव है, यह बहुधा होता है कि कोई भौतिक सहजवृत्ति होती है) उस हालत में तुम्हें उसकी बात सुननी चाहिये क्योंकि शरीर की सहजवृत्ति बहुत निश्चयात्मक होती है, यदि उसे विचार या प्राणिक इच्छा विक्षुब्ध न कर दे। अगर शरीर पर बात छोड़ दी जाये तो वह भली-भांति जानता है कि वह क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता और केवल इतना ही नहीं बल्कि ऐसी चीज भी जिसे तुम कर सकते हो और बहुधा करते हो, उसके लिये अगर एक दिन तुम्हें एक तरह का प्रतिक्षेप लगे मानों तुम उससे पीछे हट रहे हो तो निश्चित रूप से तुम्हें वह न करनी चाहिये। यह एक संकेत है कि किसी-न-किसी कारण से, किसी शुद्ध भौतिक, शरीर की गड़बड़ की वजह से तुम उस समय वह करने योग्य नहीं हो। तब तुम्हें उसे न करना चाहिये। उस हालत में यह भय भी नहीं होता, यह कोई ऐसी चीज होती है जो कतराती, पीछे हटती है, दिमाग में कुछ नहीं है। वह इस तरह के विचार के साथ मेल नहीं खाती कि अब क्या होनेवाला है। जब दिमाग काम करने लगता है और तुम कहते

हो, "क्या होनेवाला है ?" तो तुम्हें उसे बुहार फेंकना चाहिये क्योंकि यह बिल्कुल बेकार होता है। तुम्हें उसे मार भगाने के लिये तर्क और समझदारी के सभी उपायों का उपयोग करना चाहिये। लेकिन यह शुद्ध रूप से भौतिक संवेदन है मानों कोई चीज सिकुड़ रही हो, एक तरह की भौतिक जुगुप्सा। अगर स्वयं शरीर इंकार कर रहा हो तो तुम्हें उसपर जबर्दस्ती कभी न करनी चाहिये, कभी नहीं, क्योंकि जब तुम जबर्दस्ती करते हो तो दुर्घटना होती है, यह एक तरह की चेतावनी हो सकती है कि कोई दुर्घटना होनेवाली है, कि अगर तुम उस चीज को करोगे तो बहुत आगे न बढ़ पाओगे और इस हालत में तुम्हें यह न करना चाहिये, तुम्हें इसमें आत्म-सम्मान न लाना चाहिये। तुम्हें अनुभव करना चाहिये, "आज मैं अच्छी अवस्था में नहीं हूं।"

लेकिन अगर यह प्राणिक भय है, उदाहरण के लिये, तुम्हारी कोई प्रतियोगिता या साम्मुख्य है और तुम्हें इस तरह का डर लगे कि "अब क्या होनेवाला है ?" तो तुम्हें उसे तुरंत बुहार फेंकना चाहिये, उसका मतलब कुछ नहीं।

*

भय को जीतने के महान् उपचारों में से एक है, जिस चीज का डर लगता है उसका बहादुरी से सामना करना, तुम जिस संकट से डरते हो उसके साथ तुम्हारा आमना-सामना होता है और तुम डर से छुटकारा पा जाते हो। डर गायब हो जाता है। योग की दृष्टि से, तपस्या की दृष्टि से इसी उपचार की सलाह दी जाती है। जैसा कि मैं पिछली बार तुमसे कह रही थी पुरानी साधनाओं में, विशेषकर मिस्र में, गुह्य विद्या का अभ्यास करने के लिये, मृत्यु के भय को पूरी तरह गायब कर देना जरूरी था। हां, तो उन दिनों प्रचलित एक अभ्यास यह था कि नवदीक्षित को शव-पेटी में लिटाकर कुछ दिनों के लिये छोड़ दिया जाता था मानों वह मर गया है। स्वभावतः उसे वहां मरने के लिये नहीं, भूख या श्वासरोध से मरने के लिये नहीं छोड़ा जाता था फिर भी वह उसमें मुर्दे की तरह पड़ा रहता था। कहते हैं कि इससे सारा भय भाग जाता है।

अपने-आपको भयमुक्त करना—कुछ उत्तर

(भय हटाने के तरीके) निम्न प्राण (नाभि से नीचे के क्षेत्र में) बल और अचंचलता लाना, इच्छा-शक्ति द्वारा और जब भय उठे तो समस्त तंत्र पर निश्चलता आरोपित करना। यह दोनों में से किसी एक या दोनों तरीकों से किया जा सकता है।

*

तुम्हें भय और क्रोध दोनों को उठा फेंकना चाहिये और माताजी पर विश्वास रखते हुए अपने मार्ग पर शांति से चलते चले जाना चाहिये।

*

यह सच है कि तुम जिससे डरते हो उसीके आने की प्रवृत्ति तबतक रहती है जबतक कि तुम सीधा उसकी आंखों में न देख सको और अपने संकोच को न जीत सको। तुम्हें भगवान् को अपना आधार बनाना सीखना होगा और भय को जीतना होगा। और भागवत सहायता पर निर्भर रहना होगा कि वह तुम्हें सभी चीजों, यहांतक कि अप्रिय और विरोधी वस्तुओं के भी पार लगा देगी। उनमें भी एक शक्ति होती है जो जिज्ञासु के लिये काम करती है और उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।

*

कार्य करनेवाली शक्ति को बढ़ने दो। यहांतक कि वह मिश्रित चेतना को पूरी तरह शुद्ध कर दे।

*

तुम भय से पूरी तरह तभी मुक्त हो सकते हो जब तुम अपने अंदर से समस्त हिंसा को निकाल बाहर करो।

एक आसान उपाय

एक छोटी-सी तरकीब है जो बहुत-बहुत आसान है। क्योंकि यह साधारण से, तुम्हारी सामान्य बुद्धि के प्रश्न पर आधारित है . . .। तुम्हें अपना कुछ अवलोकन करना चाहिये और कहना चाहिये कि जब तुम डरते हो तो मानों भय उस चीज को आकर्षित कर रहा है जिससे तुम डरते हो। अगर तुम बीमारी से डरते हो तो मानों बीमारी को आकर्षित कर रहे हो। अगर तुम दुर्घटना से डरते हो, मानों तुम दुर्घटना को आकर्षित करते हो। और अगर तुम जरा अपने अंदर और अपने चारों ओर देखो तो पहचान जाओगे कि यह स्थायी तथ्य है। तो अगर तुम्हारे अंदर कुछ सामान्य बुद्धि है तो तुम कहोगे, ''किसी भी चीज से डरना मूर्खता है, क्योंकि यह ठीक ऐसा है जैसे मैं उस चीज को अपने पास आने का इशारा कर रहा हूं। अगर मेरा कोई दुश्मन है जो मुझे मार डालना चाहता है तो मैं जाकर उससे यह न कहूंगा, ''देखो तुम जिसे मारना चाहते हो वह मैं हूं।'' यह कुछ ऐसी ही बात है। तो चूंकि भय बुरा है, हम उसे नहीं रखेंगे और अगर तुम कहो कि तुम अपनी बुद्धि द्वारा उसे रोकने में असमर्थ हो तो इससे यह पता लगता है कि तुम्हारा अपने ऊपर कोई नियंत्रण नहीं है और अपने-आपको नियंत्रित करने के लिये तुम्हें कुछ प्रयास करना चाहिये। बस यही।

*

गुह्यवादियों के लिये सबसे अच्छा उपाय यह है कि जैसे ही तुम्हें किसी चीज का डर लगने लगे, भगवान् के बारे में सोचो और उनकी भुजाओं में या उनके चरणों से लिपट जाओ और भीतर, बाहर, चारों ओर जो कुछ भी हो, उसकी जिम्मेदारी पूरी तरह उनपर छोड़ दो और तुरंत भय गायब हो जायेगा। गुह्यवादी के लिये यही उपाय है और है भी सबसे सरल। लेकिन हर एक को गुह्यवादी होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

उचित वृत्ति की शक्ति

क्या हमेशा अच्छे-से-अच्छा ही होता है ? . . . यह तो स्पष्ट है कि जो कुछ हुआ है वह होना ही था, अन्यथा नहीं हो सकता था—वैश्व नियतिवाद के अनुसार उसे होना ही था। लेकिन हम यह बात उसके हो चुकने के बाद ही कह सकते हैं, उससे पहले नहीं। जो हो सकता है उसमें सर्वोत्तम की समस्या तो वैयक्तिक समस्या है, वह व्यष्टि चाहे कोई राष्ट्र हो या एक मनुष्य; और सब कुछ निर्भर होता है व्यष्टिगत वृत्ति पर। अगर जो परिस्थितियां आने ही वाली हैं उनके आगे तुम यथासंभव उच्चतम वृत्ति धारण कर सको—यानी, तुम अपनी चेतना को, अपनी पहुंच के अंदर उच्चतम चेतना के संपर्क में रख सको तो तुम पूरी तरह से निश्चित हो सकते हो कि उस स्थिति में तुम्हारे लिये अच्छे-से-अच्छा ही हो सकता है। लेकिन जैसे ही तुम उस चेतना में से निचली स्थिति में गिरोगे, फिर निश्चय ही सर्वोत्तम चीज नहीं होगी जिसका सरल-सा कारण यह है कि तुम अपनी सर्वोत्तम चेतना में नहीं हो। मैं तो यहांतक कह सकती हूं कि हर एक के तात्कालिक व्यष्टिगत प्रभाव-क्षेत्र में उचित वृत्ति की केवल इतनी ही शक्ति नहीं होती कि हर परिस्थिति को लाभप्रद बना दे बल्कि वह स्वयं परिस्थिति को ही बदल सकती है। उदाहरण के लिये जब कोई तुम्हारी हत्या करने आता है, अगर तुम साधारण चेतना में रहो और डर जाओ, अपना होश खो दो तो अधिक संभव यह है कि वह जो करने के लिये आया था उसे करने में सफल हो जाये, लेकिन अगर तुम जरा ऊंचे उठ सको और भले डर से भरे रहो फिर भी भागवत सहायता को पुकारो तो हो सकता है कि वह तुम्हें चूक जाये या तुम्हें जरा-सी चोट ही पहुंचा पाये। लेकिन अगर तुम उचित वृत्ति रखो और अपने चारों ओर दिव्य उपस्थिति की पूरी चेतना रखो तो वह तुम्हारे विरुद्ध एक उंगली भी न उठा सकेगा।

यह सत्य रूपांतर की समस्त समस्या की ठीक-ठीक चाबी है, हमेशा भागवत उपस्थिति के स्पर्श में रहो, उसे नीचे लाने की कोशिश करो—और हमेशा अच्छे-से अच्छा होगा। निश्चय ही सारा संसार तुरंत नहीं बदल जायेगा

लेकिन वह जितनी तेजी से संभव है, आगे बढ़ेगा। यह न भूलो कि यह केवल तभी होगा जब तुम योग के सीधे मार्ग पर चलो, तब नहीं जब तुम रास्ते से हिल जाओ, रास्ता भूलकर मनमौजी ढंग से या असहाय होकर अनजाने जंगल में भटकते रहो।

अगर तुममें से हर एक अपना अधिक-से-अधिक करे तो उचित सहयोग होगा और परिणाम उतनी ही जल्दी आयेगा। मैंने उचित वृत्ति के अनगिनत उदाहरण देखे हैं। मैंने देखा है कि एक आदमी के उचित वृत्ति रखने के कारण जनसमूह विध्वंसों से बच गये। लेकिन यह ऐसी वृत्ति होनी चाहिये जो शरीर को अपनी सामान्य प्रतिक्रियाओं में छोड़कर कहीं बहुत ऊपर रहती हो। अगर तुम इस तरह ऊपर रहो और कहो, "भगवान् की इच्छा पूरी हो" तो हो सकता है कि तुम मारे जाओ क्योंकि हो सकता है कि तुम्हारा शरीर बिल्कुल अदिव्य हो, भय से कांपता रहे ! असली चीज है स्वयं शरीर में सच्ची चेतना को धारण करना, जरा भी न डरना और दिव्य शांति से भरा होना। तब कोई खतरा नहीं रहता। केवल मनुष्यों के आक्रमण को ही दूर नहीं रखा जा सकता है बल्कि पशुओं और तत्त्वों पर भी असर डाला जा सकता है। मैं तुम्हें एक छोटा-सा उदाहरण दे सकती हूं। तुम्हें उस बड़े तूफान की रात याद है जब भयंकर गर्जन के साथ जोर की वर्षा भी हो रही थी चारों ओर। मैंने सोचा मैं श्रीअरविंद के कमरे में जाकर खिड़कियां बंद करने में उनकी मदद करूंगी। मैंने उनका दरवाजा खोला और देखा कि वे चुपचाप अपनी मेज पर लिख रहे थे। कमरे में इतनी ठोस शांति थी कि कोई सपने में भी न सोच सकता था कि बाहर तूफान चल रहा था। सभी खिड़कियां पूरी तरह खुली थीं लेकिन वर्षा की एक बूंद भी अंदर न आ रही थी।

उसके बाद वह किसी चीज से जुगुप्सा नहीं करता

. . . जो मनुष्य अपने-आपको सभी प्राणियों में देखता है, कभी घृणा नहीं कर सकता, वह किसी से जुगुप्सा नहीं करता, उसमें न तो प्रतिक्षेप होता है न भय '*ततो न विजुगुप्सते*' (ईशोपनिषद् मंत्र ६)। वह रहा कोढ़ी जिसे सब लोगों ने त्याग रखा है, क्या मैं भी उससे कन्नी कटाऊंगा ? मैं, जिसे मालूम है कि इस विचित्र छद्मवेश में ब्रह्म मुस्कराती आंखों से झांक रहा है ? यह शत्रु जो मेरे हृदय में तलवार घुसेड़ देने के लिये आ रहा है, मैं उसकी तेज डरावनी तलवार, घृणा की आंखों और चढ़ी हुई त्यौरियों के पीछे नजर डालता हूं तो अपनी ही आत्मा का मुखौटा देखता हूं। इसके बाद मैं न तो तलवार से डरूंगा और न उसके धारण करनेवाले से घृणा करूंगा। हे मेरी अपनी आत्मा, जिसे तू मूर्खतावश अपना शत्रु कहती है, तू मेरी शत्रु कैसे हो सकती है जबतक कि मैं स्वयं ऐसा न चाहूं। मित्र और शत्रु उस मन की रचनाएं हैं जो असंख्य तमाशे करनेवाला जादूगर, महान् स्वप्न-द्रष्टा और कलाकार है। और अगर मैं तुझे अपने शत्रु के रूप में न देखना चाहूं तो तू स्वप्न और छाया से बढ़कर शत्रु नहीं हो सकता, जैसे वास्तव में तेरी चमकती तलवार एक स्वप्न मात्र है और तेरी चढ़ी हुई भृकुटि छाया मात्र है। लेकिन तू मुझे अपनी तलवार से चीर कर रख देगा, मुझे मार डालेगा, गोलियों से छेद देगा, अग्नि से यंत्रणा देगा, तोप के मुंह से उड़ा देगा ? तू मुझे नहीं छेद सकता। मुझे मारा नहीं जा सकता, छेदा नहीं जा सकता, भेदा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, हिलाया नहीं जा सकता। तू बस मेरे इस वेश को फाड़ सकता है। मैं जिस अन्नमयकोष या बहुविध जीव-द्रव्य को धारण किये हूं उसे फाड़ सकता है—मैं वही हूं जो पहले था। मैं तेरे ऊपर नाराज भी न होऊंगा क्योंकि कौन ऐसा है जो किसी छोटे बच्चे पर गुस्सा करके अपने-आपको इसलिये तकलीफ देगा कि बच्चे ने खेल में या बचकाने गुस्से में उसका कपड़ा फाड़ दिया है ? शायद मैं कपड़े को महत्त्व देता था और उससे इतनी जल्दी जुदा न होता, तो मैं उसे बचाने की कोशिश करूंगा। अगर हो सका तो मैं गुस्से के बिना तुझे दंड भी दूंगा ताकि तू और कपड़े न फाड़े,

लेकिन अगर मैं न कर सकूं तो आखिर यह एक कपड़ा ही तो था; जल्दी ही दूकान से दूसरा लाया जा सकता है; क्या मैंने पहले ही खरीदने के लिये दाम नहीं दे दिये ? ऐ मेरे न्यायाधीश ! जो यह निर्णय करने के लिये बैठा है कि मुझे सूली पर चढ़ा दिया जाये जबतक कि मैं मर न जाऊं क्योंकि मैंने अचानक हजारों भूखों को रोटी देने के लिये तेरा कानून तोड़ा है, अचानक अपने देशवासियों की सहायता की है जिन्हें तू अपने मजे के लिये गुलाम बनाकर रखना चाहता है। तू मुझे सूली पर चढ़ा देगा ? जब तू स्वर्ग में सूर्य को नहीं हिला सकता या आकाश को कपड़े की तरह लपेट नहीं सकता तो क्या तुझे मुझे फांसी पर लटकाने की शक्ति दी जायेगी ? वह कौन या क्या है जो तेरे ख्याल में फांसी लगने से मर जायेगा ? सूक्ष्म तंतुओं का एक गट्ठर, उससे अधिक कुछ नहीं। बाहरी तू और मैं केवल रंगमंच के मुखौटे हैं, उनके पीछे 'एक' है जो न मारता है, न मरता है। हे न्यायाधीश कहानेवाले मुखौटे, तू अपनी भूमिका अदा कर, मैं अपनी कर चुका। हे प्राचीन योग के पुत्र, अपनी आत्मा को सभी चीजों में अनुभव कर। किसी चीज से न डर, किसी चीज से घृणा न कर, किसी चीज से भयभीत न हो, किसी से द्वेष न कर। अपनी भूमिका बल और साहस के साथ पूरी कर। इस तरह तू वह होगा जो तू सचमुच है। तेरी विजय में भगवान्, मेरी पराजय में भगवान्। तेरी मृत्यु और तेरे उत्पीड़न में भगवान्, —भगवान् जो पराजित नहीं हो सकते, जो मर नहीं सकते। क्या भगवान् किसी से डरेंगे ? क्या वे निराश होंगे ? क्या वे कांपे और लड़खड़ायेंगे ?? नहीं, तेरे शरीर और मस्तिष्क के तंतु कांपते और लड़खड़ाते हैं। तू उनके भीतर बैठा बस शांत आंखों से उनकी पीड़ा और आतंक को देखता रहता है। वे तो केवल छाया हैं जो अपने वास्तविक होने के स्वप्न लेते हैं। सभी प्राणियों में आत्मा का अनुभव कर, सभी प्राणियों को आत्मा में अनुभव कर तो अंत में आतंक तेरे आतंक से भाग जायगा, पीड़ा तुझे छुयेगी भी नहीं ताकि कहीं उसे ही तेरे स्पर्श से यातना न होने लगे। मृत्यु तेरे नजदीक आने का साहस न करेगी ताकि कहीं अपने-आप मारी न जाये।

योग और भय

अगर तुम योग करना चाहते हो तो तुम्हें भय से पिंड छुड़ा लेना चाहिये। योग और भय साथ नहीं रह सकते।

*

यह मानना भूल है कि डरने या दुःखी रहने से तुम प्रगति कर सकते हो। भय एक ऐसा भाव है जिसे हमेशा अस्वीकार करना चाहिये क्योंकि जिससे तुम डरते हो उस चीज के आने की बहुत संभावना रहती है। भय भय के विषय को आकर्षित करता है। दुःख बल को कम कर देता है और दुःख का एक और कारण बढ़ा देता है।

तुम अचंचल, सुखी और प्रसन्न हो सकते हो हल्के फुल्के और छिछले रूप में यह सब हुए बिना भी—यह जरूरी नहीं है कि सुख प्राणिक प्रतिक्रिया लाये। तुम्हें जो कुछ करना है वह बस इतना ही कि सावधान और जाग्रत् रहो ताकि तुम गलत गतिविधियों को या पुराने भावों, अंधकार, अस्त-व्यस्तता आदि को स्वीकृति न दे दो। अगर तुम जाग्रत् रहो तो तुम्हें अवलंबन देनेवाली शक्ति के बढ़ने से आत्म-संयम देनेवाली शक्ति आयेगी, वह शक्ति आयेगी जो जब गलत मोड़ और गलत प्रतिक्रिया को आते हुए देखे तो अस्वीकार कर दे, भय और दुःख तुम्हें यह न दे सकेंगे। वह आयेगी केवल इस जाग्रति और उस शक्ति की ओर खुलने से जो सहारा देती और पथ-प्रदर्शन करती है।

*

ऐसी भौतिक गतिविधियां हैं जो योग के दबाव का प्रभाव होती हैं, जो कभी-कभी ऐसे अकारण भय उत्पन्न कर देती हैं जिन्हें यदि अस्वीकार न किया जाये तो हानिकर हो सकती हैं। उदाहरण के लिये सिर पर एक दबाव-सा मालूम होता है जिसके बारे में पूछा गया है, जिसका अनुभव बहुत-से लोग करते हैं, विशेष रूप से पहली

अवस्थाओं में, जब अभीतक बंद किसी चीज को खुलना होता है। यह एक ऐसी असुविधा होती है जिसका परिणाम कुछ नहीं होता और जिसे आसानी से दूर किया जा सकता है, बशर्ते कि तुम जानो कि यह शक्तियों के ऐसे दबाव का परिणाम है जिनकी ओर तुम खुल रहे हो, जब ये परिणाम लाने, रूपांतर को जल्दी लाने के लिये जोर से काम करती हैं। इसे शांति से लिया जाये तो यह एक प्रिय संवेदन में बदल सकता है। लेकिन अगर तुम डर जाओ तो निश्चय ही तुम्हारे सिर में जोर का दर्द हो जायेगा, यहांतक कि तुम्हें बुखार भी आ सकता है। बेचैनी प्रकृति में किसी प्रतिरोध के कारण हो सकती है। अगर तुम प्रतिरोध को छोड़ना जानो तो तुरंत बेचैनी से मुक्त हो सकते हो लेकिन तुम डर जाओ तो बेचैनी बहुत अधिक अप्रिय चीजों में बदल सकती है। अनुभव चाहे जैसा क्यों न हो तुम्हें भय को स्थान न देना चाहिये। तुम्हें निष्कंप विश्वास रखना चाहिये कि जो कुछ होगा होने योग्य वही है। एक बार तुमने मार्ग चुन लिया तो तुम्हें बहादुरी के साथ अपने चुनाव के सभी परिणामों को स्वीकार करना होगा। लेकिन चुनो और पीछे हट जाओ, फिर से चुनो और फिर पीछे हट जाओ, हमेशा डगमगाते, हमेशा संदेह करते, हमेशा डरते रहे तो तुम अपनी सत्ता में असामंजस्य पैदा कर लेते हो जो न केवल तुम्हारी प्रगति में बाधा देता है बल्कि मन और प्राणिक सत्ता में सब तरह की गड़बड़ और शरीर में बेचैनी और बीमारी का मूल हो सकता है।

*

तुम्हें डर लगता है क्योंकि जब तुम ध्यान करने की कोशिश करते हो तो तुम्हें श्वास रुकता-सा मालूम होता है। अगर तुम भयों से इतने भरे हुए हो तो इस मार्ग पर पांव मत रखो। मान लो बुरी-से-बुरी अवस्था आ जाये तो क्या होगा ? तुम मर सकते हो—और फिर ? अगर तुम मर जाओ तो कौन-सा बड़ा नुकसान हो जायेगा ? हमारा योग भीरुओं के लिये नहीं है, अगर तुम्हारे अंदर हिम्मत नहीं है तो इसे छोड़ दो—तुम्हारे भय विपदा ले आयेंगे।

*

जीवन में अवचेतना का बहुत अधिक भाग होता है और वह सचेतन भागों की अपेक्षा सैंकड़ों गुना जोर से काम करता है। साधारण मानव अवस्था शंका-कुशंका के भय से भरी होती है। अगर तुम दस मिनट के लिये अपने मन का अवलोकन करो तो तुम देखोगे कि दस में से नौ मिनट वह भय से भरा होता है। वह अपने अंदर बहुत-सी चीजों का, छोटी, बड़ी, नजदीक और दूर की, देखी, अनदेखी चीजों का भय लिये रहता है और यद्यपि तुम सचेतन रूप से इसे नहीं देखते पर वह हमेशा होता है। समस्त भय से मुक्ति केवल स्थिर प्रयास और अनुशासन से ही आ सकती है।

और अगर तुम अनुशासन और प्रयास द्वारा अपने मन को भयमुक्त और प्राण को संदेह और भय से छुड़ा भी लो तो भी शरीर को विश्वास दिलाना ज्यादा कठिन है, लेकिन यह भी करना चाहिये। एक बार तुम योग-मार्ग में प्रवेश करो तो तुम्हें सब तरह के भय से पिंड छुड़ाना होगा—अपने मन के भय, प्राण के भय, शरीर के भय जो कोषाणुओं में बसे हैं। योग-मार्ग पर तुम्हें जो चोटें लगती हैं, जो प्रहार होते हैं उनका एक उपयोग है तुम्हें समस्त भय से मुक्त करना। तुम्हारे भय के कारण बार-बार तुम पर लपक पड़ते हैं जबतक कि तुम उनके आगे मुक्त और तटस्थ, अस्पृष्ट और शुद्ध होकर न खड़े हो सको। किसी को समुद्र का डर लगता है, किसी को आग का। दूसरा आदमी देखेगा कि उसे एक के बाद एक अग्निकांडों का सामना करना पड़ता है यहांतक कि वह इतना प्रशिक्षित हो जाये कि उसके शरीर का एक कोषाणु तक न कांपे। तुम्हें जिस चीज की दहशत होती है वह बार-बार तबतक आती रहेगी जबतक कि दहशत चली न जाये। जो रूपांतर चाहता है और इस मार्ग का अनुयायी है उसे पूरा-पूरा भयहीन होना चाहिये, वह अपनी प्रकृति के किसी भी भाग में किसी चीज से प्रभावित न हो, कांपे नहीं।

*

अपने भयों पर विजय पाने का अर्थ है कि सत्ता का एक भाग है जो औरों से ज्यादा मजबूत है, जिसे डर नहीं लगता और जो अपनी निर्भीकता उस भाग पर आरोपित करता है जो डरता है।

मार्ग पर चलना

. . . भय एक अशुद्धि है, सबसे बड़ी अशुद्धियों में से एक, उनमें से एक है जो सीधी भागवत विरोधी शक्तियों से आती है, जो धरती पर दिव्य कार्य को नष्ट कर देना चाहती हैं; और जो सचमुच योग करना चाहते हैं उनका पहला कर्तव्य यह है कि अपनी चेतना में से भय को निकाल बाहर करें, अपनी पूरी शक्ति के साथ, अपनी पूरी सचाई के साथ, वे जितनी सहनशक्ति रखते हैं उसके साथ, भय की छाया को भी न रहने दें। मार्ग पर चलने के लिये तुम्हें निर्भीक होना चाहिये और उस छोटी, तुच्छ, कमजोर, अपनी ओर ही सिकुड़नेवाली चीज, भय में कभी रस न लो।

अदम्य साहस, पूर्ण सचाई, निष्कपट आत्मदान ताकि तुम सौदेबाजी न करो, पाने के विचार से न दो, रक्षा पाने के विचार से विश्वास न करो, ऐसी श्रद्धा न हो जो प्रमाण मांगती है—यह मार्ग पर चलने के लिये अनिवार्य है और केवल यही चीज है जो सचमुच सभी संकटों से तुम्हारी रक्षा कर सकती है।

*

हर चीज का सतत भागवत उपस्थिति की चेतना के साथ सामना करो, भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मदान, और सारी सत्ता इस इच्छा में संयुक्त हो, तब तुम जीवन में आगे बढ़ सकते हो, किसी भी चीज का सामना कर सकते हो।

*

. . . चाहे कोई क्षेत्र हो, चाहे जो संकट हो, मनोवृत्ति एक ही रहे—अचंचल और विश्वस्त।

बीमारी और डर

क्या आदमी भय के कारण बीमार हो सकता है ?

हां, मैं एक आदमी को जानती थी जो भय से इतना भरा था कि उसे हैजा हो गया। उसके पड़ोस के मकान में हैजा था। उसे बहुत डर लगता कि कहीं उसे हैजा न हो जाये और बिना किसी कारण के, केवल डर के कारण उसे हैजा हो गया। और यह बहुत आम बात है। महामारी के अधिकतर रोगियों के बारे में यही बात होती है। डर के कारण ही दरवाजा खुल जाता है और तुम बीमार हो जाते हो। जिन्हें डर नहीं होता वे खुलकर घूम-फिर सकते हैं और उन्हें कुछ नहीं होता। लेकिन फिर भी . . . हो सकता है कि तुम्हारे मन में भय न हो, तुम्हारे प्राण में भी भय न हो लेकिन किसका शरीर है जिसमें भय नहीं होता ? . . . बहुत कम।

शरीर को डर से मुक्त करने के लिये कड़े अनुशासन की जरूरत होती है। स्वयं कोषाणु कांपते हैं, केवल अनुशासन द्वारा, योग द्वारा इस डर को जीता जा सकता है। लेकिन यह तथ्य है कि डर के मारे तुम कोई भी बीमारी पकड़ सकते हो, यहांतक कि दुर्घटना को भी बुला सकते हो।

*

मानसिक और प्राणिक रूप से अपने-आपको मुक्त कर लेने के बाद भी शरीर को विश्वास दिलाना क्यों इतना कठिन होता है ?

क्योंकि अधिकतर मनुष्यों में शरीर अपनी प्रेरणाएं अवचेतन से पाता है, वह अवचेतन के प्रभाव में होता है। सक्रिय चेतना से भगाये गये सभी भय वहां जाकर शरण लेते हैं और स्वभावतः उन्हें अवचेतन से खदेड़ना और जड़ से उखाड़ फेंकना पड़ेगा।

*

सामान्य दृष्टिकोण से, अधिकतर लोगों में साधारणतः भय होता है—यह मानसिक भय हो सकता है, प्राणिक भय हो सकता है लेकिन जो प्रायः हमेशा भौतिक भय होता है, कोषाणुओं में भय होता है। भय ही सब प्रकार के संक्रमणों के लिये दरवाजा खोल देता है। मानसिक भय—ऐसे सब जिन्हें अपने ऊपर कुछ संयम है या जिनमें आत्म-गौरव है वे इसे निकाल सकते हैं। प्राणिक भय अधिक सूक्ष्म होता है और अधिक नियंत्रण की मांग करता है लेकिन शरीर का भय—इसे जीतने के लिये तो पूरे पक्के योग की जरूरत है, शरीर के कोषाणु हर उस चीज से डरते हैं जो अप्रिय, कष्टकर हो। जैसे ही कोई असुविधा हो, चाहे वह नगण्य-सी क्यों न हो, शरीर के कोषाणु चिंतित हो उठते हैं, वे असुविधा में पड़ना पसंद नहीं करते। तब उसे जीतने के लिये सचेतन इच्छा-शक्ति का नियंत्रण जरूरी है। सामान्यतः इस तरह का डर बीमारी के लिये दरवाजा खोल देता है। मैं पहले दो प्रकार के भयों की बात नहीं कर रही जिनके बारे में मैं कह चुकी हूं कि जो शब्द के उच्चतम, उदात्त अर्थों में मनुष्य होना चाहता है उसे उन भयों को जीतना ही चाहिये क्योंकि वह भीरुता है। लेकिन भौतिक भय को जीतना ज्यादा कठिन है। उसके बिना अधिक-से-अधिक उग्र आक्रमणों को भी रोका जा सकता है। अगर तुम्हें शरीर पर जरा भी नियंत्रण प्राप्त है तो उसके प्रभाव को कम किया जा सकता है। लेकिन यह तो रोग-मुक्ति न हुई। शरीर के कोषाणुओं का इस तरह जड़-भौतिक भय से कांपना सभी बीमारियों को बढ़ा देता है।

कुछ लोग सहज रूप से भयमुक्त होते हैं—अपने शरीर में भी। उनमें इतना काफी प्राणिक संतुलन होता है कि उन्हें डर न लगे, वे भयभीत न हों और उनके अपने भौतिक जीवन की लय में स्वाभाविक सामंजस्य होता है जो सहज रूप से रोग को कम-से-कम कर देता है। दूसरी ओर ऐसे लोग होते हैं जिनमें चीजें हमेशा जितनी अधिक बुरी हो सकती हैं उतनी हो जाती हैं, कभी-कभी तो महाविपदा की स्थिति तक पहुंच जाती हैं। यह पूरा एक परिसर होता है जिसे आसानी से देखा जा सकता है। यह उनके अंदर प्राण की सुखद लय पर निर्भर होता है जो या तो इतनी सामंजस्यपूर्ण होती है कि बीमारी के सभी बाहरी आक्रमणों का सामना कर सके या होती ही नहीं या काफी सामर्थ्यवाली

नहीं होती और उसका स्थान ले लेता है भय से कांपना, वह सहज चिंता जो जरा से भी अप्रिय संपर्क को दुःखद और हानिकर चीज में बदल देती है। यह पूरी एक श्रेणी होती है जिसमें कुछ ऐसे होते हैं जो बुरे-से-बुरे संक्रमण और महामारी में से भी बिना प्रभावित हुए गुजर सकते हैं और दूसरे ऐसे जो जरा-सा बहाना मिलते ही बीमार पड़ जाते हैं। अतः स्वाभाविक रूप से यह बात हर व्यक्ति के गठन पर निर्भर होती है और जैसे ही कोई प्रगति करने के लिये प्रयास करता है, स्वभावतः यह इस पर निर्भर है कि व्यक्ति ने अपने ऊपर कितना संयम सिद्ध कर लिया, और यह चीज उस क्षण तक चलती है जब मनुष्य उच्चतम इच्छा-शक्ति का विनीत यंत्र बन जाये और उससे सभी आक्रमणों के प्रति सामान्य प्रतिरोध पा ले।

लेकिन जब तुम भय को दूर कर सको तो तुम प्रायः सुरक्षित होते हो। उदाहरण के लिये महामारी या तथाकथित महामारियों को लो जिनका आजकल प्रकोप रहता है—सौ में से निन्यानवे बार वे भय से आती हैं। एक ऐसे भय से जो मानसिक भय भी बन जाता है, बहुत ही घिनौने प्रकार का भय जिसे अखबारों के लेख और व्यर्थ की बातें बढ़ाती हैं।

*

मधुर मां, जब हम किसी रोग को आते देखें तो उसे कैसे रोक सकते हैं?

ओह! सबसे पहले तो यह कि तुम्हें उसकी चाह न होनी चाहिये, तुम्हारे शरीर में किसी चीज को उसकी चाह न हो, तुम्हारे अंदर बीमार न होने के लिये प्रबल इच्छा-शक्ति होनी चाहिये। यह पहली शर्त है!

दूसरी शर्त है ज्योति का आह्वान करना, संतुलन की ज्योति, शांति, स्थिरता और सामंजस्य की ज्योति और उसे शरीर के सभी कोषाणुओं में भेजो और उन्हें आदेश दो कि वे डरें नहीं, क्योंकि यह एक और शर्त है।

पहले तो बीमार होना न चाहो, फिर रोग से डरो नहीं। तुम्हें न तो उसे आकर्षित करना चाहिये न उससे कांपना चाहिये। तुम्हें बीमारी की चाह

बिलकुल न होनी चाहिये लेकिन यह न चाहना भय के कारण न होना चाहिये। तुम्हें डरना न चाहिये। तुम्हारे अंदर निश्चल निश्चिति होनी चाहिये और भागवत कृपा की शक्ति पर पूर्ण विश्वास होना चाहिये कि वह हर चीज से तुम्हारी रक्षा करेगी और तब किसी और चीज के बारे में सोचो, इसके बारे में जरा भी चिंतित न रहो। ये दो बातें कर लेने पर, अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ बीमारी को अस्वीकार करके और अपने अंदर ऐसे विश्वास को भर कर जो शरीर के कोषाणुओं के भय को पूरी तरह निकाल दें और फिर अपने-आपको किसी और चीज में व्यस्त करके, बीमारी के बारे में बिल्कुल न सोचो, यह भूलकर कि उसका अस्तित्व भी है . . . अगर तुम इतना करना जानो, तुम ऐसे लोगों के संपर्क में भी रह सकते हो जिन्हें संक्रामक रोग हो, फिर भी रोग तुम्हें न छुएगा। लेकिन तुम्हें जानना चाहिये कि यह कैसे किया जाये।

बहुत-से लोग कहते हैं, "हां लो, मेरे अंदर डर नहीं है।" उनके मन में कोई डर नहीं होता, उनका मन नहीं डरता, वह मजबूत होता है पर शरीर कांपता है और उसे इसका पता नहीं होता क्योंकि कंपन शरीर के कोषाणुओं में चलता रहता है। शरीर भयंकर चिंता से कांपता रहता है और यही बीमारी को आकर्षित करती है। तुम्हें वहीं पर शक्ति, और पूर्ण शांति की स्थिरता और भागवत कृपा में संपूर्ण विश्वास रखना चाहिये। और फिर कभी-कभी ऐसी ही शक्ति द्वारा तुम अपने विचार से ऐसे सब सुझावों को खदेड़ने के लिये बाधित होते हो कि आखिर भौतिक जगत् बीमारियों से भरा है और ये संक्रामक हैं और चूंकि मेरा संपर्क किसी ऐसे व्यक्ति से हुआ था जो बीमार था इसलिये निश्चय ही यह बीमारी मुझे लग जायेगी और तब भीतरी उपाय इतने मजबूत नहीं होते कि शरीर पर क्रिया कर सकें, और सब प्रकार की मूर्खताएं, जिनसे हवा भरी है, ये सामूहिक सुझाव होते हैं जिन्हें हर आदमी एक से दूसरे तक पहुंचाता रहता है और अगर दो-तीन डॉक्टर भी हों तो चीज भयंकर हो जाती है। (हंसी)

*

अगर तुम बीमार हो तो तुम्हारी बीमारी की इतनी चिंता और भय के साथ

देख-रेख की जाती है, तुम पर इतना ज्यादा ध्यान दिया जाता है कि तुम उस 'एक' से सहायता लेना भूल ही जाते हो जो सहायता दे सकता है और तुम कुचक्र में जा गिरते और अपने रोग में अस्वस्थ रस लेने लगते हो।

*

जब शारीरिक गड़बड़ होती है तो तुम्हें उससे डरना न चाहिये, तुम्हें उससे भागना न चाहिये, साहस, निश्चलता, शांति, विश्वास और इस निश्चिति के साथ उसका सामना करना चाहिये कि रोग **मिथ्यात्व** है और यह कि अगर हम उससे पूरी तरह विमुख हो जायें, पूरे विश्वास के साथ, पूरी शांति के साथ भागवत कृपा की ओर मुड़ें तो वह इन कोषाणुओं में बस जायेगी, जैसे वह अपने-आपको सत्ता की गहराइयों में स्थापित कर लेती है और स्वयं कोषाणु शाश्वत सत्य और आनंद में भाग लेंगे।

*

कुछ समय से मैं सचमुच अपने पैरों के त्वचा-रोग से चिंतित हो उठा हूं। माताजी, कृपया इस रोग को मेरे शरीर से और भय को मन से निकाल फेंकिये।

सच्चा रोग भय है। भय को निकाल फेंको और रोग चला जायेगा। मेरी सहायता तुम्हारे साथ है।

*

मेरी धारणा है कि अधिक प्रोटीन और स्टार्चवाले भोजन खाज के लिये हानिकर होते हैं।

भोजन के शरीर पर प्रभाव में ९० प्रतिशत तो विचार की शक्ति होती है।

अगर तुम विश्वास के साथ डॉक्टर 'क' का इलाज करते जाओ तो तुम ठीक हो जाओगे।

*

रही बात कैंसर की, पहली चीज जो तुम्हें करनी चाहिये वह है डर को खदेड़ दो।

*

डर छिपी हुई रजामन्दी है। जब तुम किसी चीज से डरते हो तो इसका अर्थ यह है कि तुम उसकी संभावना को स्वीकार करते हो और इस तरह उसके हाथ मजबूत करते हो। यह कहा जा सकता है कि यह अवचेतन स्वीकृति है।

*

तुम्हें डरना न चाहिये। तुम्हारी अधिकतर तकलीफें डर से आती हैं। वस्तुतः नब्बे प्रतिशत बीमारियां शरीर के अवचेतन भय का परिणाम होती हैं। शरीर की सामान्य चेतना में जरा-सी भी शारीरिक गड़बड़ के परिणाम के बारे में न्यूनाधिक रूप से छिपी चिंता रहती है। उसका अनुवाद भविष्य के बारे में संदेह के इन शब्दों में किया जा सकता है : "अब क्या होगा ?" इस चिंता को रोकना चाहिये। वास्तव में यह चिंता भगवान् की कृपा पर अविश्वास है, इस बात का सुस्पष्ट प्रमाण है कि उत्सर्ग अभी पूरा पक्का और संपूर्ण नहीं हुआ है।

हर बार अवचेतन भय को जीतने का एक व्यावहारिक उपाय यह है कि जब उसकी कोई चीज सतह पर आये तो सत्ता का ज्यादा प्रबुद्ध भाग शरीर पर भागवत कृपा की निश्चिति पर पूर्ण विश्वास की आवश्यकता की छाप डाले, यह

विश्वास दिलाये कि भागवत कृपा हमारे अंदर और दूसरों में भी हमेशा अच्छे-से-अच्छे के लिये कार्य करती है, और तुम्हारे अंदर भागवत इच्छा के प्रति पूर्ण और अबाध समर्पण के लिये निश्चय हो।

शरीर को यह जानना और विश्वास करना चाहिये कि उसका सारतत्त्व दिव्य है और अगर भगवान् के कार्य में कोई बाधा न डाली जाये तो कोई चीज हमें हानि नहीं पहुंचा सकती। इस प्रक्रिया को तबतक निरंतर दोहराना चाहिये जबतक कि भय की पुनरावृत्ति बंद न हो जाये—और तब अगर रोग प्रकट होने में सफल भी हो जाये तो उसका बल और उसकी अवधि काफी कम हो जायेंगी—जबतक कि वह निश्चित रूप से जीत न लिया जाये।

दुःस्वप्न और प्राणमय लोक

प्राणिक सत्ताएं एक अति भौतिक जगत् में विचरती हैं जहां यदि मानव सत्ताएं पहुंच जायें तो अपने-आपको बिल्कुल भौंचक्की, असहाय और निस्सहाय अनुभव करती हैं। मनुष्य अपने जड़ शरीर में ही चैन से रहता है। शरीर उसकी सुरक्षा है। कुछ लोग अपने शरीर के लिये घृणा से भरे होते हैं और सोचते हैं कि मृत्यु के बाद शरीर के बिना स्थिति ज्यादा अच्छी तथा ज्यादा आसान होगी। लेकिन वस्तुतः शरीर तुम्हारा किला और तुम्हारा सहारा है। जब तुम शरीर में रहते हो तो विरोधी शक्तियों को वहां पहुंचना और तुम पर सीधी पकड़ पाना कठिन होता है। दुःस्वप्न क्या हैं? ये प्राणमय लोक में तुम्हारा विचरण हैं। और जब तुम दुःस्वप्न की पकड़ में हो तो तुम पहली चीज क्या करते हो? तुम झपटकर अपने शरीर में लौट आते हो और अपने-आपको अपनी सामान्य भौतिक चेतना में हिलाते हो। लेकिन प्राणिक शक्तियों के जगत् में तुम अजनबी होते हो। वह एक अज्ञात समुद्र है जहां तुम्हारे पास न तो दिक्सूचक होता है न पतवार।

*

स्वप्नों में तुम्हें याद रखना चाहिये कि तुम प्राणमय लोक के देश और काल में हो। वहां उसी तरह व्यवहार करने की कोशिश न करो मानों तुम अब भी भौतिक शरीर में हो। अगर तुम्हें वहां की चीजों की स्थिति का जरूरी ज्ञान है तो तुम उन प्राणिक सत्ताओं के साथ बहुत अधिक प्रभावी ढंग से व्यवहार कर सकते हो जो तुम्हें आतंकित करती और ऐसे अप्रिय दुःस्वप्न देती हैं। प्राणिक देश और काल की क्रियाओं का एक विशेष लक्षण यह है कि ये सत्ताएं अपनी इच्छा के अनुसार विकराल रूप धारण कर सकती हैं और तुम्हारे अंदर भय के स्पंदन पैदा कर सकती हैं। तुम पर आक्रमण और अधिकार करने के लिये यही उनका सबसे प्रबल साधन है। तुम्हें अपने मन में उनकी आतंककारी भ्रामक शक्ति के बारे में याद रखना चाहिये और समस्त भय को निकाल फेंकना चाहिये। अगर तुम बहादुरी के साथ निर्भीक होकर उनका सामना करो और सीधा उनकी आंखों में देख सको तो वे अपनी शक्ति का तीन-चौथाई भाग खो बैठती हैं और अगर तुम हमें सहायता के लिये बुलाओ तो बाकी चौथाई भी चला जाता है और वे या तो भाग जाती हैं या लुप्त हो जाती हैं। मेरा एक मित्र जो प्रायः अपने प्राणिक शरीर में घूमने जाया करता था, यह शिकायत करता था कि उसे हमेशा एक दानवाकार शेर का सामना करना पड़ता है और इस कारण उसकी रातें बहुत ही दुःखमय हो जाती हैं। मैंने उससे कहा, 'समस्त भय को त्याग दो और सीधे जाकर शेर की आंखों से आंखें मिलाओ और जरूरत हो तो सहायता के लिये पुकारो।' उसने ऐसा ही किया और देखो तमाशा, शेर तुरंत एक छोटी-सी नगण्य बिल्ली बन गया !

तुम प्राणिक सत्ता की आंखों में आंखें डालने के जादुई असर के बारे में कल्पना नहीं कर सकते। यहां धरती पर भी अगर तुम उन सत्ताओं के साथ इसी तरह व्यवहार करो जिन्हें हम प्राणिक शक्तियों का अवतार कहते हैं, जिन्हें हम सामान्यतः पशु कहते हैं तो तुम्हें सरलता से प्रभुत्व मिल जाता है। अगर तुम जरा भी कांपे बिना भौतिक शेर की आंखों में आंखें डालकर देखो तो वह भी तुम्हारे पास से भाग जायेगा। अगर तुम जरा भी डरे बिना अपनी आंखें सीधी सांप की आंखों में गड़ा सको तो वह तुम्हें कभी न काट सकेगा। कांपते हुए घुटनों के साथ घूरने से कोई सहायता न मिलेगी। तुम्हारे अंदर कोई क्षोभ

न होना चाहिये। तुम्हें शांत और प्रकृतिस्थ होना चाहिये जब तुम उसके साथ आंखें मिलाओ, जब वह तुम्हें घृणित भय में सम्मोहित करने के लिये सिर डुलाता है। पशु मनुष्य की आंखों में एक प्रकाश के बारे में अभिज्ञ होते हैं जिसे वे नहीं सह पाते, बशर्ते कि वह उन पर उचित रूप से डाला जाये। मनुष्य की नजर में एक ऐसी शक्ति होती है जो उन्हें बेकार कर देती है बशर्ते कि वह स्थिर और निर्भीक हो।

हां, तो मतलब यह कि दो चीजें याद रखो। कभी, कभी न डरो और सभी परिस्थितियों में सच्ची सहायता को पुकारो जो तुम्हारी शक्ति को सौगुना मजबूत कर सके।

शिक्षा में भय

तुम अपने और अपने बच्चे के बीच भय को कभी न आने दो। भय शिक्षा का जहरीला तरीका है। वह बिना अपवाद के धोखे और झूठ को जन्म देता है। केवल एक विवेकपूर्ण प्रेम जो दृढ़ होने के साथ मृदु हो और पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान विश्वास के ऐसे बंधन बना देगा जो अपने बच्चे को प्रभावशाली रूप से प्रशिक्षित करने के लिये अनिवार्य है।

*

एक और चीज है जो बच्चे को उसकी छोटी उम्र से ही सिखानी चाहिये वह है सफाई में मजा लेना और स्वास्थ्यकर आदतें डालना। लेकिन बच्चे से सफाई को प्राप्त करने तथा स्वास्थ्य के नियमों का आदर करने के लिये तुम्हें इस बात का खास ख्याल रखना चाहिये कि उसमें बीमारी का भय न पैदा कर दो। भय शिक्षा का सबसे बुरा साधन है और निश्चित रूप से उस चीज को आकर्षित करता है जिससे तुम डरते हो।

*

बच्चे को इसलिये शरारत करना बंद कर देना चाहिये क्योंकि उसे शरारत करते लज्जा आती है इसलिये नहीं कि वह दंड से डरता है।'

पहली स्थिति में वह सच्ची प्रगति करता है।

दूसरी स्थिति में वह मानव चेतना में एक कदम नीचे जा गिरता है क्योंकि भय चेतना का नीचे गिरना है।

मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करने के चार साधन

सामान्यतः मानव प्रगति को रोकनेवाली सबसे बड़ी बाधा शायद भय है; भय के रूप विविध तथा असंख्य होते हैं, वह अपने-आपमें विरोधयुक्त, तर्कहीन, अनुचित और प्रायः अविवेकी होता है। मृत्यु का भय सब प्रकार के भयों में सबसे अधिक सूक्ष्म और हठी होता है। उसकी जड़ें अचेतना तक में गहरी पैठी होती हैं और वहां से उन्हें उखाड़ फेंकना आसान नहीं होता। प्रत्यक्ष ही यह भय कई मिश्रित तत्त्वों से बना होता है; ये चीजें हैं, सुरक्षा की भावना, आत्म-रक्षा की चिंता जिसका भाव होता है कि चेतना का सूत्र लगातार सुनिश्चित रूप से चलता रहे, अज्ञात से पीछे हट जाना, अप्रत्याशित और अचिंत्य से उत्पन्न उद्वेग और शायद इस सबके पीछे कोषाणुओं की गहराई में छिपी हुई यह सहज-भावना काम करती है कि मृत्यु कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे बचा न जा सके और यह भी कि यदि कुछ शर्तें पूरी की जा सकें तो उसपर विजय प्राप्त की जा सकती है, यद्यपि यह सत्य है कि स्वयं भय ही इस विजय के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है। क्योंकि हम उसपर विजय प्राप्त नहीं कर सकते जिससे हम डरते हैं, और जो मृत्यु से डरता है वह पहले से ही मृत्यु के द्वारा विजित हो चुका है।

इस भय से कैसे छुटकारा पाया जाये ? इसके लिये कई तरीके काम में लाये जा सकते हैं। किंतु अपने इस प्रयास के प्रारंभ में ही कुछ सहायक

' बाद में माताजी ने कहा था : "यह पहला कदम है। जब वह यहांतक पहुंच पाये तो वह आगे प्रगति कर सकता है और अच्छा बनने का आनंद सीख सकता है।"

मूलभूत विचारों को जान लेना आवश्यक है। पहली और अत्यंत महत्वपूर्ण बात यह जान लेना है कि जीवन अविभाज्य और अमर है, बस, उसके रूप अनगिनत होते हैं और वे रूप ही क्षणिक तथा नाशवान् होते हैं। यह ज्ञान व्यक्ति को अपने मन में निश्चित और स्थायी रूप में प्रतिष्ठित कर लेना चाहिये और यथासंभव अपनी चेतना को उस शाश्वत जीवन के साथ एकात्म कर लेना चाहिये जो सब रूपों में स्वतंत्र है, पर फिर भी अपने-आपको सब रूपों में अभिव्यक्त करता है। इससे हमें वह आवश्यक मनोवैज्ञानिक आधार मिल जाता है जहां से समस्या का सामना किया जा सकता है, क्योंकि समस्या तो है ही न। आंतरिक सत्ता यदि इतनी पर्याप्त मात्रा में आलोकित हो भी जाये कि वह सब भयों से ऊपर उठ जाये, तो भी शरीर के कोषाणुओं में भय छिपा ही रहेगा, अस्पष्ट और स्वतःचालित रूप में, बुद्धि की पकड़ से परे सामान्यतः प्रायः निश्चेतन-सा। इन्हीं अंधेरी गहराइयों में से उसे ढूंढ़ निकालना होगा, पकड़ना होगा और उसपर ज्ञान तथा विश्वास का प्रकाश डालना होगा।

इस तरह से जीवन का नाश तो नहीं होता, रूप अवश्य विघटित हो जाता है और शारीरिक चेतना इसी विघटन से भय खाती है। फिर भी, रूप लगातार परिवर्तित होते रहते हैं और सचमुच कोई भी वस्तु इस परिवर्तन को प्रगतिशील होने से नहीं रोक सकती। यह प्रगतिशील परिवर्तन ही इस बात को संभव कर सकता है कि मृत्यु अनिवार्य न हो। पर इस कार्य को संपन्न करना है कठिन, और यह शर्तों की मांग करती है जिन्हें बहुत कम लोग पूरा कर सकते हैं। इस प्रकार मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करने की विधि व्यक्ति के स्वरूप या उसकी चेतना की अवस्थाओं के अनुसार, भिन्न-भिन्न होगी। इन विधियों को चार प्रमुख श्रेणियों में बांट सकते हैं यद्यपि प्रत्येक श्रेणी में अनेक भेद-विभेद भी होंगे, सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रणाली अपने-आप विकसित करनी होगी।

पहली विधि बुद्धि को आकर्षित करती है। यह कहा जा सकता है कि संसार की वर्तमान अवस्था में मृत्यु अनिवार्य है; प्रत्येक शरीर जो जन्म लेता है, एक-न-एक दिन अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होगा, और करीब-करीब सभी की मृत्यु तभी आती है जब उसे आना होता है; उसकी घड़ी को न कोई टाल

सकता है और न कोई जल्दी ही ला सकता है। जो उसकी तीव्र इच्छा करता है उसे कभी-कभी बहुत लंबे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है और जो उससे डरता है वह, सब सावधानियां बरतते हुए भी, अचानक उसका ग्रास बन जा सकता है। मृत्यु की घड़ी अटल रूप में नियत की हुई प्रतीत होती है, इसके अपवाद बहुत थोड़े-से ही लोग होते हैं जिनमें वे शक्तियां होती हैं जो कि साधारण मानवजाति में नहीं पायी जातीं। तर्क-बुद्धि हमें यह सिखाती है कि जिस चीज से बचा नहीं जा सकता उससे डरना मूर्खता है। उपाय एक ही है, वह यह कि मृत्यु के विचार को स्वीकार कर लिया जाये और दिन-प्रतिदिन, क्षण-प्रतिक्षण मनुष्य वही करे जो अच्छे-से-अच्छा कर सकता है और इसकी चिंता न करे कि आगे क्या होगा। यह प्रक्रिया उन बुद्धिवादियों के लिये अत्यंत फलदायक होती है जो तर्क-बुद्धि के नियमों के अनुसार काम करने के आदी होते हैं, किंतु जो भावुक लोग अपनी भावनाओं में निवास करते हैं और उन्हीं के द्वारा संचालित होते हैं, उनमें यह कम फलप्रद सिद्ध होगी। निस्संदेह इन लोगों को दूसरी विधि अपनानी चाहिये, वह है आंतरिक खोज की। सब भावों से परे, हमारी सत्ता की नीरव और शांत गहराइयों में एक प्रकाश सदा प्रज्वलित रहता है, यह अंतरात्मा की चेतना का प्रकाश है। इस प्रकाश को खोजो, इसपर एकाग्र होओ; यह तुम्हारे अंदर ही है। दृढ़ संकल्प के द्वारा तुम निश्चय ही यह प्रकाश पाओगे और ज्यों ही तुम उसमें प्रवेश पाओगे, त्यों ही तुम अमरता के भाव के प्रति जाग्रत् हो जाओगे। तुम अनुभव करोगे कि तुम सदा ही जीवित रहे हो और सदा ही जीवित रहोगे; उस अवस्था में तुम अपने शरीर से पूर्णतया स्वतंत्र हो जाते हो; तुम्हारा सचेतन अस्तित्व उसपर आश्रित नहीं रहता; और यह शरीर तो बहुत-से नाशवान् रूपों में से एक है जिनके द्वारा तुम अभिव्यक्त हुए हो। तब मृत्यु एक समापन नहीं हो जाती, वह केवल एक संक्रमण की अवस्था हो जाती है। तत्काल ही समस्त भय भाग जाता है और तुम मुक्त पुरुष की शांत निश्चयता के साथ जीवन में आगे बढ़ते हो।

तीसरी विधि उन लोगों के लिये है जो एक दिव्य अस्तित्व में—जिसे वे अपना भगवान् कहते हैं—श्रद्धा रखते हैं और जिसे वे अपने-आपको उसे समर्पित कर चुके होते हैं। ये लोग पूर्णतया उसीके होते हैं, उनके जीवन की

सभी घटनाएं भागवत इच्छा की अभिव्यक्ति होती हैं, इन घटनाओं को वे केवल एक शांत समर्पण-भाव से ही नहीं, बल्कि कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं, कारण, उन्हें यह विश्वास रहता है कि जो कुछ भी उनके साथ घटता है वह सदा ही उनके भले के लिये होता है। उन्हें अपने भगवान् में तथा उनके साथ अपने वैयक्तिक संबंध में एक प्रकार का गुह्य विश्वास होता है। उन्होंने अपनी इच्छा पूर्ण रूप से भगवान् की इच्छा को अर्पित कर दी होती है और वे उनके अटल प्रेम और संरक्षण को अनुभव करते हैं, जीवन और मृत्यु की आकस्मिक घटनाओं का उस प्रेम और संरक्षण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके अंदर सदा यह अनुभूति रहती है कि वे पूर्ण आत्म-समर्पण के साथ अपने प्रियतम के चरणों में प्रणत हैं अथवा उसकी बाहों में आश्रय लिये हुए हैं और वहां पूर्ण सुरक्षा अनुभव कर रहे हैं। उनकी चेतना में भय, चिंता या दुःख के लिये जरा भी स्थान नहीं होता; इस सबका स्थान एक शांत और हर्षपूर्ण आनंद ले लेता है।

किंतु प्रत्येक को गुह्यवेत्ता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

अंत में, कुछ लोग जन्मजात योद्धा होते हैं; जीवन जैसा है उसे वे वैसा ही स्वीकार नहीं कर सकते, अपने अंदर वे एक अमरता के अधिकार का, सर्वांगीण तथा पार्थिव अमरता के अधिकार का स्पंदन अनुभव करते हैं। उनके अंदर एक प्रकार का सहज-ज्ञान होता है कि मृत्यु बस, एक बुरी आदत है और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने उसपर विजय प्राप्त करने का निश्चय लेकर जन्म लिया है। पर इस विजय का अर्थ होता है भयंकर और सूक्ष्म आक्रमणकारियों की सेना के विरुद्ध घोर युद्ध, ऐसा युद्ध जो सदा ही, यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्षण ही, लड़ना पड़े। इस मोर्चे पर आने का खतरा उसीको उठाना चाहिये जिसमें इसके लिये अदम्य उत्साह हो। इस युद्ध के कई मोर्चे हैं; यह कई स्तरों पर होता है जो आपस में एक-दूसरे से मिले-जुले-से तथा एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

पहला मोर्चा ही काफी भीषण होता है। वह एक सामूहिक मन का युद्ध होता है, एक विशाल तथा अभिभूत और विनाश कर देनेवाले सुझाव के विरुद्ध, ऐसे सुझाव के विरुद्ध जो सहस्रों वर्षों के अनुभव पर आधारित है,

प्रकृति के एक ऐसे नियम पर आधारित है जिसका अभी तक कोई अपवाद देखने में नहीं आता। वह एक ऐसी हठीली मान्यता का रूप धारण कर लेता है : "सदा ही ऐसा होता रहा है, इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता। मृत्यु अनिवार्य है, और यह आशा करना पागलपन है कि वह इससे भिन्न कुछ हो सकती है।" यह राय सर्वसम्मत है और अभी तक तो किसी बड़े-से-बड़े विद्वान् ने भी इसके विरुद्ध अपनी आवाज उठाने का, भविष्य में आशा देने का जरा भी साहस नहीं किया है। और जहांतक धर्मों की बात है, अधिकतर धर्मों ने तो मृत्यु के तथ्य को ही अपनी कार्य-शक्ति का आधार बनाया है और वे कहते हैं कि यह भगवान् की इच्छा है कि मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो, क्योंकि उसीने उसे नश्वर बनाया है। इनमें से बहुत-से तो मृत्यु को उद्धार, मुक्ति और कभी-कभी तो पुरस्कार का रूप भी दे देते हैं। वे यह उपदेश देते हैं : 'सर्वोच्च' की इच्छा के आगे नत होकर मृत्यु के विचार को बिना किसी विद्रोह के स्वीकार करो, और तुम्हें शांति और सुख मिलेगा। यह सब होते हुए भी, मन को अपने विश्वास में अटल रहना होगा, अपना संकल्प अटूट बनाये रखना होगा। किंतु जिसने मृत्यु पर विजय पाने का संकल्प कर लिया है उसपर ये सब सुझाव कोई प्रभाव नहीं डालते, उसकी निश्चयता एक गहरे प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित होती है और उस निश्चयता को ये सुझाव छू नहीं सकते।

दूसरा युद्ध होता है भावों का, यह उस आसक्ति के विरुद्ध युद्ध है जो उसकी अपनी बनायी हुई वस्तुओं के प्रति, अपनी प्रिय वस्तुओं के प्रति होती है। कठिन परिश्रम के परिणामस्वरूप, कभी-कभी तो कठोर प्रयत्नों के फलस्वरूप, तुमने अपना घर बनाया होता है, अपना जीवन निर्माण किया होता है, अपना सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, वैज्ञानिक या राजनीतिक कार्य निश्चित किया होता है, तुमने एक ऐसे वातावरण की सृष्टि कर ली होती है जिसके तुम मध्यबिंदु होते हो और जिसपर तुम कम-से-कम उतना ही आश्रित होते हो जितना कि वह तुम पर होता है। तुम व्यक्तियों के एक बड़े समूह द्वारा, कुटुम्बियों, मित्रों और सहकर्मियों द्वारा घिरे रहते हो और जब तुम अपने जीवन के विषय में सोचते हो, ये सब तुम्हारी विचारधारा में उतना ही स्थान ग्रहण किये होते हैं जितना कि प्रायः तुम स्वयं ग्रहण किये होते हो; यहांतक कि

यदि ये अचानक तुमसे दूर हटा दिये जायें तो तुम अपने-आपको खोया-खोया-सा अनुभव करने लगोगे मानों तुम्हारी अपनी सत्ता का एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग गायब हो गया हो।

इन सब वस्तुओं को त्याग देने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि ये बड़ी हद तक तुम्हारे अस्तित्व के लक्ष्य और प्रयोजन का निर्माण करती हैं। किंतु त्याग करना है इनके प्रति अपनी समस्त आसक्ति का ताकि तुम इनके बिना रहने में समर्थ अनुभव कर सको, बल्कि, यदि ये तुम्हें छोड़ दें तो तुम नयी परिस्थितियों में और अपने लिये नया जीवन फिर से बनाने के लिये तैयार रह सको, और इसे अनिश्चित काल तक कर सको, क्योंकि यही अमरता का परिणाम है। इस अवस्था की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : सब कुछ अधिकतम ध्यान तथा सावधानी से व्यवस्थित और संपन्न कर सकना, किंतु साथ ही कामना और आसक्तिमात्र से मुक्त रहना; कारण, यदि तुम मृत्यु से बचना चाहते हो तो तुम्हें किसी भी नश्वर वस्तु से बंधना नहीं चाहिये।

भावनाओं के बाद संवेदन आते हैं। यहां लड़ाई निर्मम होती है और शत्रु भयंकर हो जाते हैं। वे तुम्हारी छोटी-से-छोटी दुर्बलता को भी भांप लेते हैं और वहीं आघात करते हैं जहां तुम अरक्षित होते हो। यहां विजय अस्थायी होती है और वे ही लड़ाइयां अनिश्चित रूप से और बार-बार लड़नी पड़ती हैं। जिस शत्रु को तुम हारा हुआ समझते हो वह बार-बार तुम पर चोट करने के लिये उठ खड़ा होता है। यहां दृढ़ रूप में सधे हुए चरित्र की, अथक सहनशीलता की आवश्यकता होती है ताकि प्रत्येक पराजय, प्रत्येक निराशा, प्रत्येक अस्वीकृति, प्रत्येक निरुत्साह का तथा नित्यप्रति के अनुभवों और पार्थिव घटनाओं के परस्पर-विरोध से उत्पन्न अपरिमित क्लांति का सामना किया जा सके।

अब हम सबसे अधिक भयंकर युद्ध पर आते हैं, यह है भौतिक युद्ध जो शरीर में लड़ा जाता है; क्योंकि वह बिना दम लिये, बिना विराम के चलता रहता है। यह जन्म के साथ शुरू होता है और दोनों योद्धाओं—रूपांतर की शक्ति और विलयन की शक्ति—में से किसी एक की पराजय के साथ ही समाप्त हो सकता है। मैंने जन्म से कहा, क्योंकि ये दोनों गतियां उसी क्षण

संघर्षरत होती हैं जिस क्षण मनुष्य संसार में आता है, यद्यपि संघर्ष सचेतन और सुविवेचित रूप बहुत बाद में लेता है। क्योंकि हर अस्वस्थता, हर रोग, हर विकृति, यहांतक कि दुर्घटनाएं भी विलयन की शक्ति का परिणाम हैं, और उसी तरह वृद्धि, सामंजस्यपूर्ण विकास, आक्रमण का प्रतिरोध, रोग-मुक्ति, हर स्वाभाविक क्रिया की ओर लौटना, हर प्रगतिशील सुधार आदि रूपांतर की शक्ति की क्रिया का परिणाम हैं। बाद में चलकर, चेतना के विकास के साथ, जब युद्ध सुविवेचित हो जाता है, तब यह दो परस्पर विरोधी गतिविधियों के बीच एक प्रचंड प्रतियोगिता होती है, यह देखने के लिये प्रतियोगिता होती है कि देखें, लक्ष्य तक कौन पहले पहुंचता है, मृत्यु या रूपांतर। इसका अर्थ है एक अंतहीन प्रयास, एक पुनरुद्धारक शक्ति का आवाहन करने के लिये सतत एकाग्रता और इस शक्ति के प्रति कोषाणुओं में ग्रहणशीलता की वृद्धि। विनाश और ह्रास की शक्तियों की विनाशक क्रिया के विरुद्ध पग-पग पर, एक-एक बिंदु पर युद्ध करना और हर उस चीज को जो प्रकाश देनेवाली, शुद्ध करनेवाली और स्थिर करनेवाली तथा ऊपर उठते हुए आवेग को प्रत्युत्तर देने की क्षमता रखती है, ऐसी हर चीज को उसकी पकड़ से छीन लेना। यह एक अंधकारपूर्ण और हठी संघर्ष है जिसका अधिकतर कोई प्रत्यक्ष परिणाम नहीं दिखायी देता, किन्हीं आंशिक और सदा अनिश्चित विजयों का कोई बाहरी चिह्न नहीं दिखायी देता—क्योंकि हमेशा यही लगता है कि जो काम किया गया है उसे दोबारा करना होगा। बहुधा, जब एक पग आगे बढ़ता है तो उसके लिये कहीं और पीछे हटना होता है। एक दिन जो काम पूरा हो जाता है दूसरे दिन उसीको उधेड़ा जा सकता है। वस्तुतः, निश्चित और स्थायी विजय तभी हो सकती है जब वह संपूर्ण हो। और इस सबमें समय लगता है, बहुत समय। वर्ष-पर-वर्ष बड़ी कठोरता के साथ बीतते चले जाते हैं और विरोधी शक्तियों का बल बढ़ाते जाते हैं।

इस सारे समय चेतना खाई में संतरी की तरह खड़ी रहती है : तुम्हें डटे रहना चाहिये, हर कीमत पर डटे रहना चाहिये, भय के कंपन के बिना, जागरूकता में कमी लाये बिना, जो लक्ष्य सिद्ध करना है उसपर, और ऊपर से आनेवाली सहायता पर—जो प्रेरणा और सहारा देती है—अटल श्रद्धा बनाये

रखनी चाहिये। क्योंकि विजय सबसे अधिक सहनशील को ही मिलेगी।

मृत्यु के भय पर विजय पाने का एक और भी तरीका है, लेकिन वहांतक इतने कम लोगों की पहुंच है कि यहां उसका उल्लेख केवल एक सूचना के रूप में किया जाता है। वह है जानबूझकर और सचेतन रूप से मृत्यु के क्षेत्र में जीते जी प्रवेश करना, और फिर उस लोक से लौटकर भौतिक शरीर में वापिस आना, और पूर्णज्ञान के साथ भौतिक सत्ता के जीवन-क्रम को फिर से अपना लेना। लेकिन इसके लिये तुम्हें दीक्षित होना चाहिये।

'मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करने के चार साधन'—विषयक लेख के अंतिम अनुच्छेद पर किये गये प्रश्नों का उत्तर

जो भी प्रश्न किये गये हैं वे सब इस एक ही प्रश्न में ढाले जा सकते हैं : वह कौन-सा ज्ञान है या अनुशासन है जो निर्भयतापूर्वक मृत्यु का सामना करने की सामर्थ्य प्रदान करता है ?

अभी तक यहां ज्ञान की इस प्रणाली के विषय में, जो साथ-ही-साथ कार्य की प्रणाली भी है, कुछ नहीं कहा गया है, क्योंकि इस ज्ञान का अध्ययन तथा अभ्यास सबके हाथों में नहीं सौंपा जा सकता। गुह्य शक्तियों के बारे में बात करने का अधिक मूल्य नहीं है; मनुष्य को इन्हें अनुभव करना चाहिये। और यह अनुभव केवल उन विशेष क्षमताओं की ही मांग नहीं करता जो केवल बहुत कम लोगों को प्राप्त हैं, वरन् उस मनोवैज्ञानिक विकास की भी मांग करता है जिसे बहुत कम लोग प्राप्त कर सकते हैं। आधुनिक जगत् में यह ज्ञान कदाचित् ही वैज्ञानिक माना जाता है, फिर भी यह वैज्ञानिक है, क्योंकि यह उन सब शर्तों को पूरा करता है जो सामान्यतः विज्ञान में आवश्यक मानी जाती हैं। यह ज्ञान की एक ऐसी पद्धति है जो कुछ सिद्धांतों के अनुसार व्यवस्थित की गयी है; यह कुछ यथार्थ प्रक्रियाओं का अनुसरण करती है और

व्यक्ति समान अवस्थाओं में समान ही परिणाम प्राप्त करता है। साथ ही, यह एक विकसनशील ज्ञान है। मनुष्य इसके अध्ययन में जुट सकता है और आजकल के किसी भी मान्य विज्ञान की तरह इसे नियमित और युक्तिपूर्ण ढंग से विकसित भी कर सकता है। केवल एक भेद है कि यह अध्ययन उन वास्तविकताओं के साथ संबंध रखता है जो अत्यधिक भौतिक संसार की वस्तुएं नहीं हैं। यदि तुम यह ज्ञान सीखना चाहते हो तो तुम्हारे पास विशेष इन्द्रियां होनी चाहियें। क्योंकि इसके क्षेत्र साधारण इन्द्रियों से परे हैं। ये विशेष इन्द्रियां मनुष्य के अंदर सुप्तावस्था में विद्यमान हैं। जिस प्रकार हमारा एक भौतिक शरीर है, उसी प्रकार अन्य सूक्ष्मतर शरीर भी हैं और इनकी भी अपनी इन्द्रियां हैं; ये इन्द्रियां हमारी भौतिक इन्द्रियों से कहीं अधिक सूक्ष्म, यथार्थ तथा शक्तिशाली हैं। क्योंकि सामान्यतः हमारी शिक्षा इस क्षेत्र के साथ संबंध नहीं रखती अतः सामान्यतया ये इन्द्रियां विकसित नहीं होतीं और जिन जगतों में ये कार्य करती हैं वे हमारे सामान्य ज्ञान की पहुंच से परे हैं। पर बच्चे, सहज-स्वाभाविक रूप में ही, अधिकतर इसी जगत् में निवास करते हैं, वे वहां उन सब प्रकार की वस्तुओं को देखते हैं जो उनके लिये भौतिक वस्तुओं के समान ही वास्तविक हैं; जब वे उनके विषय में बातें भी करते हैं तो प्रायः उनसे यही कहा जाता है कि वे मूर्ख अथवा झूठे हैं, कारण, वे उन विषयों के बारे में बातें करते हैं जिनका दूसरों को कुछ अनुभव नहीं, पर जो उनके अपने लिये उतने ही सच्चे, गोचर और वास्तविक हैं जितनी कोई और चीज जिसे सब देख सकते हैं। बच्चे, सोते या जागते हुए जो स्वप्न देखते हैं वे भी बड़े सजीव होते हैं और उनके जीवन के लिये अत्यंत महत्त्व रखते हैं। अत्यधिक मानसिक विकास के साथ ही ये शक्तियां बच्चों में मंद पड़ जाती हैं तथा कभी-कभी तो विलीन होकर समाप्त भी हो जाती हैं। फिर भी कुछ ऐसे सौभाग्यशाली लोग भी हैं जो सहज रूप में विकसित आंतरिक इन्द्रियों के साथ ही जन्मे हैं, और कोई भी चीज इन इन्द्रियों को जाग्रत् बने रहने, यहांतक कि इन्हें विकसित होने से भी नहीं रोक सकती। यदि उन लोगों की, ठीक समय पर, किसी ऐसे मनुष्य के साथ भेंट हो जाये जिसे यह ज्ञान प्राप्त है और जो सूक्ष्म इन्द्रियों की विधिवत् शिक्षा में उन्हें सहायता पहुंचा सके, तो वे गुह्य जगतों के अध्ययन और खोजों के लिये बहुत रोचक यंत्र बन जायेंगे।

सभी युगों में पृथ्वी पर कुछ ऐसे इक्के-दुक्के व्यक्ति या छोटे समुदाय हुए हैं जो अतिप्राचीन परंपरा के रक्षक थे तथा जिन्होंने अपने निजी अनुभवों द्वारा उस परंपरा की पुष्टि की थी; और जो इस प्रकार के विज्ञान का अभ्यास भी किया करते थे। वे ऐसी आत्माओं को खोजते थे जिन्हें विशेष रूप से यह शक्ति प्राप्त हो, और उन्हें आवश्यक शिक्षा देते थे। साधारणतया ये समुदाय थोड़ा-बहुत गुप्त या रहस्यमय जीवन व्यतीत करते थे, क्योंकि साधारण लोग इस प्रकार की क्षमताओं या क्रियाओं के प्रति बहुत असहिष्णु होते हैं जो उनकी बुद्धि के परे की चीजें होती हैं तथा उन्हें भयभीत कर देती हैं। लेकिन मानव इतिहास में ऐसे महान् युग हुए हैं जब इस विद्या की दीक्षा देनेवाली संस्थाएं स्थापित हुईं और उन्हें मान्यता भी मिली; लोग उन्हें उपयोगी समझते तथा उनका मान करते थे। इस प्रकार की संस्थाएं प्राचीन मिश्र देश, प्राचीन कैल्डिया और भारतवर्ष में तथा आंशिक रूप में यूनान और रोम में भी थीं, मध्यकालीन यूरोप में भी ऐसे विद्यालय थे जो गुह्यविद्या की शिक्षा देते थे; किंतु इन्हें बड़ी सावधानी से अपने-आपको गुप्त रखना पड़ता था, क्योंकि ईसाई धर्म, जो कि राजधर्म था, इनका पीछा करता तथा इन्हें दंडित करता था। और यदि दुर्भाग्यवश यह पता लग जाता कि कोई स्त्री या पुरुष इस गुह्यविद्या का अभ्यास करता है तो वह चिता पर चढ़ा दिया जाता था और उसे जादूगर समझकर जीवित जला दिया जाता था। अब यह ज्ञान प्रायः लुप्त हो गया है; बहुत ही कम लोग अब इस विद्या को जानते हैं। किंतु ज्ञान के साथ-साथ, असहिष्णुता भी चली गयी है। यह सत्य है कि हमारे समय में अधिकतर शिक्षित लोग इस विद्या के अस्तित्व को नकारना पसंद करते हैं या इसे कोरी कल्पना कहकर दबा देते हैं, यहांतक कि, इसे ढोंग समझते हैं, ताकि वे अपने अज्ञान और अपनी उस व्याकुलता को अपने से छुपा सकें जो वे अनुभव करते यदि उन्हें एक ऐसे शक्ति की वास्तविकता को स्वीकार करना पड़ता जिसके ऊपर उनका कोई वश नहीं है। साथ ही उन लोगों में भी जो इसे अस्वीकार नहीं करते, अधिकतर को ऐसी चीजों से कोई विशेष प्रेम नहीं होता; ये उनसे विक्षुब्ध और परेशान हो उठते हैं। किंतु अंत में उन्हें यह मानना पड़ा है कि यह कोई अपराध नहीं है। जो लोग गुह्यविद्या का अभ्यास करते हैं वे अब

चिता पर नहीं चढ़ाये जाते और न ही बंदीगृह में डाले जाते हैं। केवल एक बात है कि अब, चूंकि छुपाने की आवश्यकता नहीं रही, बहुत-से लोग दावा करने लगे हैं कि यह ज्ञान उन्हें प्राप्त है किंतु ऐसे बहुत कम लोग हैं जो इसे सचमुच जानते हैं। उस रहस्य से लाभ उठाकर, जो पहले गुह्यविद्या को आच्छादित किये हुए था, कुछ महत्त्वाकांक्षी लोग, जिन्हें सत्य असत्य की कोई चिंता नहीं होती, रहस्यीकरण और ठगी के साधन के रूप में इसका प्रयोग करने लगे हैं। किंतु इन लोगों के ही द्वारा हमें उस ज्ञान का मूल्यांकन नहीं करना चाहिये जिसे जानने का वे झूठा दावा करते हैं। मानव कार्य-व्यवहार के सभी क्षेत्रों में नीम-हकीम तथा ठग विद्यमान हैं; किंतु हमें उनके पाखंड को एक ऐसी सच्ची विद्या पर लांछन नहीं लगाने देना चाहिये जिसके प्राप्त होने का वे झूठा दावा करते हैं। इसी कारण, इस विद्या की उन्नति के महान् युगों में, जब ऐसे मान्य विद्यालय थे जहां इसका अभ्यास होता था, जो कोई इस विद्या को सीखना चाहता था उसे प्रविष्ट होने से पहले बहुत लंबे समय तक, कभी-कभी तो वर्षों तक आत्म-विकास तथा आत्म-संयम के अत्यंत कठोर दोहरे अनुशासन का अनुसरण करना पड़ता था। एक ओर तो अभीप्सु के आशयों की सच्चाई तथा निःस्वार्थता, उसके उद्देश्यों की पवित्रता, आत्म-विस्मृति और अहंनिषेध की उसकी योग्यता, त्याग की भावना तथा निरहंकारता के संबंध में यथासंभव निश्चय प्राप्त किया जाता था,—इस प्रकार उसकी अभीप्सा की उच्चता तथा श्रेष्ठता प्रमाणित हो जाती थी,—और दूसरी ओर उसे कई परीक्षाओं में से गुजरना पड़ता था जिसका उद्देश्य यह निश्चित करना होता था कि क्या उसकी क्षमताएं पर्याप्त हैं और वह उस विद्या का अभ्यास, जिसके लिये वह अपने-आपको समर्पित करना चाहता है, बिना किसी खतरे के कर सकता है ? ये परीक्षाएं विशेषतया व्यक्ति की लालसाओं और कामनाओं पर संयम, एक अचल शांति की स्थापना और सबसे बढ़कर पूर्ण निर्भयता पर आग्रह करती थीं, क्योंकि इस कार्य में पूर्ण निर्भयता सुरक्षा की आवश्यक शर्त है।

गुह्यविद्या, अपने एक पक्ष में, एक प्रकार की रसायनविद्या है जो आंतरिक आयामों की शक्तियों की क्रीड़ा तथा जगतों एवं वैयक्तिक आकारों की रचना

में प्रयुक्त की जाती है। और जिस प्रकार भौतिक रसायनविद्या में विशेष पदार्थों का व्यवहार खतरे से खाली नहीं है, उसी प्रकार गुह्य जगतों में भी कुछ विशेष शक्तियों का प्रयोग करने तथा उनसे संपर्क रखने में खतरा है, महान् आत्म-संयम तथा एक अविचलित अचंचलता ही इसे अहानिकर बना सकती है।

एक अन्य पक्ष से देखें तो गुह्य विद्या एक अन्वेषक के लिये अज्ञात प्रदेशों की खोज तथा अनुसंधान के समान है जिनके नियम तथा विधि-विधान वह प्रायः कष्ट उठाकर ही सीखता है। कुछ प्रदेश तो नये जिज्ञासु के लिये काफी भयावह भी होते हैं, वह अपने-आपको नये और अप्रत्याशित संकटों में घिरा पाता है। फिर भी उनमें से अधिकतर संकट उतने सत्य नहीं हैं जितने काल्पनिक, और अगर तुम उनका सामना निडरता से करो तो वे अपनी वास्तविकता का अधिकांश खो बैठते हैं।

बहरहाल, प्रत्येक अवस्था में सभी युगों में, यह परामर्श दिया जाता रहा है कि किसी ऐसे विश्वस्त गुरु से ही शिक्षा लेनी चाहिये जो अनुसरणीय पथ दिखा सके, संकटों से सावधान कर सके, चाहे वे काल्पनिक हों या नहीं, और समय पड़ने पर रक्षा कर सके।

इसलिये यहां इस विद्या की कुछ और बारीकियों के विषय में कहना कठिन है, सिवाय इसके कि गुह्यविद्या के अध्ययन का अनिवार्य आधार सत्ता की अनेक अवस्थाओं तथा आंतरिक जगतों के मूर्त एवं गोचर सत्य की स्वीकृति है, जो चार या अनेक आयामोंवाले व्योमों के सिद्धांत का मनोवैज्ञानिक प्रयोग है।

इस प्रकार गुह्य विद्या की परिभाषा यों की जा सकती है : यह विद्या, आकारों के जगत् में, उस चीज का मूर्त विषयीकरण है जिसकी शिक्षा आध्यात्मिक अनुशासन शुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देते हैं। इन दोनों को आत्म-विकास और समग्र कर्म की पूर्णता के लिये, एक-दूसरे का पूरक होना चाहिये। आध्यात्मिक अनुशासन के बिना गुह्य ज्ञान एक ऐसा उपकरण है जो यदि अपवित्र हाथों में पड़ जाये तो उस व्यक्ति के लिये जो उसे प्रयोग में लाता है तथा अन्यों के लिये भी संकटपूर्ण हो जाता है। उधर गुह्यविद्या के

बिना आध्यात्मिक ज्ञान के बाह्य परिणामों में यथार्थता और निश्चितता का अभाव रहता है; यह केवल आत्म-निष्ठ जगत् में ही सर्वशक्तिमान् है। ये दोनों जब कर्म में, चाहे वह आंतरिक हो या बाह्य, संयुक्त हो जाते हैं, तो ये अदम्य हो जाते हैं और अतिमानसिक शक्ति की अभिव्यक्ति के योग्य यंत्र बन जाते हैं।

मृत्यु का भय

शरीर और उसकी क्रियाओं के लिये आसक्ति के साथ-ही-साथ शरीरस्थ जीवन के लिये आसक्ति पर भी विजय पा ली जाती है। क्योंकि जब हम यह अनुभव करते हैं कि भौतिक सत्ता हमारा स्व नहीं है, केवल हमारा वेश या उपकरण है तो शरीर की मृत्यु के लिये प्रतिक्षेप जो प्राणिक मनुष्य में इतनी प्रबल और उग्र वृत्ति है, उसे भी अनिवार्य रूप से कम हो जाना चाहिये और उसे फेंका जा सकता है। उसे फेंक देना और पूरी तरह फेंक देना जरूरी है। मृत्यु का भय और शारीरिक समाप्ति के प्रति अरुचि मनुष्य पर उसके पाशविक मूल द्वारा छोड़े गये दाग हैं। ये निशानियां पूरी तरह मिटनी चाहियें।

भगवान् का भय

भगवान् के भय का प्रयोजन मुख्य रूप से नैतिक क्षेत्र में तब महत्त्वपूर्ण होता है जब जीव इतने पर्याप्त रूप से विकसित न हो कि शुभ का अनुसरण स्वयं शुभ के लिये कर सके, जब उसे अपने ऊपर किसी अधिकारी की जरूरत हो जिसके क्रोध या कठोर भावुकताहीन न्याय से डरकर शुभ की ओर अपनी निष्ठा की नींव जमा सके। जब हम आध्यात्मिकता में बढ़ते हैं तो यह प्रयोजन मन में बची हुई

अस्तव्यस्तता या किसी पुरानी दुराग्रही मानसिकता के रूप के सिवा और किसी तरह नहीं रह सकता . . . । और ज्यादा विशाल रूप से कहें तो दिव्य प्रकृति में विकसित होना ही तो नैतिक सत्ता की परिपूर्ति है। इसका सबसे अच्छा तरीका यह है कि भगवान् को अपनी उच्चतर आत्मा, मार्ग दिखाने और ऊपर उठानेवाली इच्छा-शक्ति या स्वामी के रूप में अनुभव किया जाये जिसके लिये हमें प्रेम है और जिसकी हम सेवा करते हैं। हमारा उद्देश्य होना चाहिये भगवान् का डर नहीं, उनसे प्रेम, उनकी सत्ता की मुक्ति और शाश्वत शुद्धि के लिये अभीप्सा।

निश्चय ही, स्वामी और सेवक के संबंध में भय आता है, पिता और बालक के संबंध में भी, लेकिन तभी जब यह मानव स्तर पर हो, जहां उनमें मुख्य रूप से नियंत्रण, अधीनता और दंड की बात आती है और प्रेम को अपने-आपको अधिकारी के मुखौटे के पीछे न्यूनाधिक रूप से मिटा देना पड़ता है। स्वामी के रूप में भी भगवान् किसी को दंड नहीं देते, धमकाते नहीं, आज्ञाकारिता आरोपित नहीं करते। मानव अंतरात्मा को मुक्त रूप से भगवान् की ओर जाना और अपने-आपको उनकी अभिभूत करनेवाली शक्ति के प्रति अर्पित करना चाहिये ताकि वह इसे पकड़कर अपने दिव्य स्तरों की ओर उठा सके और उसे अनंत द्वारा सांत प्रकृति पर आधिपत्य का वह आनंद दे सके, और उच्चतम की सेवा का भी जिसके द्वारा अहंकार और निम्नतर प्रकृति से मुक्ति मिलती है। इस संबंध की चाबी है प्रेम और भारतीय योग में दास्यम् है दिव्य सखा की सुखद सेवा या दिव्य प्रेयसी की आवेशभरी सेवा। जगतों का स्वामी जो गीता में अपने सेवक या भक्त से केवल यही मांगता है कि वह जीवन में उसके उपकरण से बढ़कर कुछ और न हो, वह यह दावा सखा, मार्गदर्शक, उच्चतर आत्मा के रूप में करता है औरं वह अपने-आपको, सब जगतों का स्वामी बतलाता है जो सभी जीवों का सखा है। "*सर्वलोकमहेश्वरम् सुहृदं सर्वभूतानाम्*।" वास्तव में ये दोनों संबंध एक साथ होने चाहियें और उनमें से कोई भी दूसरे के बिना पूरा नहीं हो सकता। इसी भांति स्रष्टा के रूप में भगवान् पितृत्व नहीं जो हमारी सत्ता के बनानेवाले के नाते आज्ञापालन की मांग करता है बल्कि प्रेम का पितृत्व हमें योग के आत्म-ऐक्य के अधिक

निकट ले जाता है। प्रेम ही दोनों में असली चाबी है और पूर्ण प्रेम भय के प्रयोजन के प्रवेश के साथ असंगत है। मानव अंतरात्मा की भगवान् के साथ निकटता उद्देश्य है और भय हमेशा रास्ते का रोड़ा और दूरी होता है। यहांतक कि भगवान् की शक्ति के बारे में भययुक्त विस्मय और समादर भी दूरी और विभाजन के चिह्न हैं और वे प्रेम के ऐक्य की घनिष्ठता में गायब हो जाते हैं।

पाप का भय

दिव्य गुरु अर्जुन से कहते हैं . . . तुम अपने कर्मफल से डर रहे हो, तुम अन्य परिणाम चाहते हो और जीवन में अपने उचित पथ से डिग रहे हो क्योंकि वह तुम्हें उनकी ओर नहीं ले जाता। लेकिन कर्मों और उनके फल का यह विचार, फल की कामना का परिणाम, कामना की पूर्ति के उपायस्वरूप कर्म, अज्ञानी की दासता है जो नहीं जानता कि कर्म क्या है, न ही वह उनके सच्चे मूल, वास्तविक क्रिया या उच्च उपयोगिता को जानता है . . .। तुम बहुत-सी चीजों से डरते हो, पाप से डरते हो, दुःख से डरते हो, नरक और दंड से डरते हो, भगवान् से डरते हो, इहलोक और परलोक से डरते हो, अपने-आपसे डरते हो। इस क्षण कौन-सी चीज है जिससे तुम नहीं डरते, तुम जो आर्य योद्धा, सारे संसार के मुख्य योद्धा हो? यह महान् भय है जो मानवजाति को घेरे हुए है, पाप का भय, इहलोक और परलोक में दुःख-कष्ट का भय, एक ऐसे जगत् का भय जिसकी सच्ची प्रकृति से वह अनभिज्ञ है, ऐसे भगवान् का भय जिसकी सच्ची सत्ता उसने नहीं देखी और जिसके वैश्व प्रयोजन को वह नहीं समझता। मेरा योग तुम्हें महान् भय से मुक्त कर देगा, इसका जरा-सा अंश भी महान् परित्राण लायेगा। एक बार इस पथ पर पग रखने के बाद तुम देखोगे कि कोई भी कदम हानि नहीं है, जरा-सी गति भी लाभकर होगी। तुम उसमें कोई बाधा न पाओगे जो तुम्हें अपनी प्रगति से विपथ कर दे—एक साहसपूर्ण और पूर्ण प्रतिज्ञा जिसे भयभीत और संकोचशील मन, जो अपने सभी मार्गों पर लड़खड़ाता हो, आसानी से निश्चित

विश्वास नहीं दे सकता। उसका महान् और पूर्ण सत्य तबतक प्रकट नहीं होता जबतक कि इस संदेश के पहले शब्दों के साथ हम गीता के अंतिम शब्द भी मिलाकर न पढ़ें, ''सभी धर्मों को त्यागकर मेरी शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा चिंता न कर।''

लेकिन यह व्याख्या मनुष्य के प्रति भगवान् के इस गहरे हृदयस्पर्शी वचन से नहीं बल्कि पथ पर पहली आवश्यक किरणों से शुरू होती है जो अंतरात्मा की ओर नहीं, बुद्धि की ओर निर्दिष्ट है। पहले मनुष्य के प्रेमी और सखा नहीं, मार्गदर्शक और गुरु बोल रहे हैं जिन्हें उसके अंदर से उसकी सच्ची आत्मा के बारे में, जगत् की प्रकृति और स्वयं उसकी क्रिया के उत्स के बारे में अज्ञान को दूर करना है। चूंकि वह अज्ञान के साथ, गलत बुद्धि और इस कारण इन विषयों में गलत इच्छा से कर्म करता है अतः मनुष्य अपने कर्मों से बंधा है या बंधा हुआ मालूम होता है, अन्यथा कर्म मुक्त आत्मा के लिये दासता नहीं है। इस गलत बुद्धि के कारण उसमें आशा और भय, क्रोध और दुःख, अस्थायी आनंद होंता है अन्यथा पूर्ण शांति और स्वाधीनता के साथ कर्म संभव है।

तीन भयंकर शत्रु

(भय, संदेह, अविश्वास)

...यह बहुत कम ही होता है कि जो लोग तैयार हैं, जो निस्संदेह सिद्धि के लिये अभिप्रेत हैं उन्हें अपने जीवन के किसी क्षण, भले निमिष मात्र के लिये ही सही, यह अनुभव न हो कि यह सिद्धि है क्या।

लेकिन जिनकी नियति निश्चित है उन्हें भी जोर से, पूर्ण निश्चय के साथ इस 'किसी चीज' के साथ संघर्ष करना पड़ता है जिसे वे अपनी सांस के साथ हवा में लेते हुए मालूम होते हैं : यह है यह भय, यह दुश्चिंता कि क्या होगा। और यह मूर्खतापूर्ण है क्योंकि अंतिम विश्लेषण में हर एक व्यक्ति की नियति वही

है : तुम पैदा होते हो, जीते हो, न्यूनाधिक संतोषजनक रूप से जीते हो और मर जाते हो। तब तुम कुछ अवधि के लिये प्रतीक्षा करते हो और फिर से जन्म लेते हो, न्यूनाधिक संतोषजनक रूप से जीते हो और फिर से मर जाते हो और यह अनिश्चित काल तक चलता रहता है जबतक कि तुम्हें यह न लगे कि अब काफी हो गया।

भय किस चीज का? लीक से बाहर हो जाने का भय? मुक्त होने का भय, बन्दी न बने रहने का भय?

और जब तुम्हारे अंदर इसे जीत लेने का काफी साहस आ जाये, जब तुम कहो, 'होना हो सो होता रहे! आखिर खोने के लिये बहुत कुछ है नहीं', तब तुम सावधान हो जाते हो, तुम सोचते हो कि क्या यह युक्तिसंगत है, क्या यह सच है, यह सब भ्रम तो नहीं है। तुम कहीं चीजों की कल्पना तो नहीं कर रहे, क्या सचमुच इन बातों में कोई तथ्य है . . . और ख्याल रखो यह अविश्वास मूर्खतापूर्ण मालूम होता है लेकिन यह अधिक-से-अधिक बुद्धिमान् लोगों में भी पाया जाता है, यहांतक कि उनमें भी जिन्हें बार-बार निश्चायक अनुभव हो चुके हैं।

जब तुम इन दो बाधाओं को जीत लो, जब अनुभूतियां इतनी प्रबल हों कि तुम आगे संदेह कर ही न सको, जब संदेह असंभव हो जाये—जैसे स्वयं अपने जीवन के बारे में संदेह करना—तब भी कुछ भयंकर, तुच्छ, शुष्क, क्षयकारी अविश्वास बना रहता है और यह मानव घमंड पर आधारित रहता है और इसी कारण इतने लंबे अरसे तक चलता है। तुम यह सोचना चाहते हो कि तुम इन सब चीजों से ऊपर हो, "ओह, मैं ऐसा नहीं हूं कि इन पिंजरों में फंस जाऊं! मैं तर्कबुद्धिवाला मनुष्य हूं और मैं चीजों को व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखता हूं। मैं इतनी आसानी से धोखा नहीं खाता।" यह भयंकर है . . . यह घृणित है, लेकिन यह है संकटपूर्ण . . .।

जब सचमुच तुम्हें इन चीजों का काफी अनुभव हो जाता है और तुम चाहते हो कि चीजें और तरह से हों तब तुम्हारे अंदर साहस, बल और क्षमता होती है कि तुम इन तीन भयंकर शत्रुओं को जीत सको—भय, संदेह और अविश्वास। लेकिन मैं दोहराती हूं, यह काफी नहीं है कि तुम एक दिन बड़े

तड़के बैठकर अपना अवलोकन करो और अपने अंदर इन चीजों के साथ संघर्ष करो और बस खत्म। तुम्हें यह बार-बार, बार-बार करते रहना पड़ेगा, इससे पूरी तरह पिंड छुड़ाने के लिये इस तरह करना पड़ेगा मानों इसका कहीं अंत ही नहीं है। वास्तव में तुम इनसे कभी पीछा नहीं छुड़ा सकते लेकिन, तुम्हारे भीतर एक ऐसा समय आता है जब तुम इतने भिन्न हो जाते हो कि ये चीजें तुम्हें छू तक नहीं सकतीं। तुम उन्हें देख सकते हो लेकिन तुम उन्हें एक मुस्कान के साथ देख सकते हो और जरा से सीधे-सादे इशारे पर वे चली जाती हैं, वहां चली जाती हैं जहां से आयी थीं, शायद थोड़ी बदलकर, शायद जरा दुर्बल और कम हठी और कम आक्रामक होकर। यहांतक कि समय आता है जब प्रकाश इतना प्रबल हो जाता है कि समस्त अंधकार गायब हो जाता है।

*

सिद्धि का मार्ग संकरा है, दरवाजे खोलना मुश्किल है, भय, अविश्वास और संदेह प्रकृति के संतरी हैं जो हमारे पैरों को कम साधारण चरागाहों में मुड़ने से रोकते हैं।

बच्चों में भय

बच्चों में भय क्यों होता है ? क्योंकि वे कमजोर होते हैं। वे अपने चारों ओर के वयस्क लोगों से शारीरिक तौर पर कमजोर होते हैं और साधारणतः प्राणिक और मानसिक तौर पर भी कमजोर होते हैं। भय हीनता-भाव से पैदा होता है।

फिर भी, उससे छुटकारा पाने का एक उपाय है, और यह है : भागवत कृपा पर विश्वास रखना और सभी परिस्थितियों में रक्षा के लिये उसीपर निर्भर रहना।

तुम जैसे-जैसे विकसित होते जाओगे, वैसे-वैसे यदि तुम अपने अंदर

अंतरात्मा—यानी, अपनी सत्ता के सत्य—के साथ संपर्क को विकसित होने दो, तो अपने भय पर विजय पाते जाओगे और हमेशा यह प्रयास करो कि तुम जो कुछ सोचो, जो कुछ बोलो, जो कुछ करो वह सब इस सत्य की अधिकाधिक अभिव्यक्ति हो।

जब तुम सचेतन रूप से उसमें निवास करोगे, तो फिर तुम्हें अपने जीवन के किसी भी क्षेत्र में किसी चीज का भय न रहेगा, क्योंकि तुम उस वैश्व 'सत्य' के साथ एक होगे जो संसार पर शासन करता है।

हमारा पथ

साधना-पथ पर चलने के लिये तुम्हारे अंदर निर्भीक वीरता होनी चाहिये, तुम्हें कभी इस हीन, तुच्छ, दुर्बल और कुत्सित वृत्ति अर्थात् भय के कारण पीछे नहीं हटना चाहिये।

दुर्दमनीय साहस, पूर्ण सचाई, सर्वांगपूर्ण आत्मदान—इस हद तक कि तुम कभी हिसाब या मोल-तोल न करो, तुम इसलिये न दो कि तुम पाओगे, तुम इस उद्देश्य से आत्मोत्सर्ग न करो कि तुम सुरक्षित रहोगे, तुम ऐसी श्रद्धा न रखो जिसे प्रमाण की आवश्यकता हो, इस पथ पर अग्रसर होने के लिये यह सब अनिवार्य है, बस यही तुम्हें सब विपत्तियों से बचने के लिये आश्रय प्रदान कर सकता है।

डरने की कोई बात नहीं

मनुष्यो, देशो और महाद्वीपो !
चुनाव अनिवार्य है :
सत्य या फिर रसातल।

१९६७ के नव वर्ष के संदेश में आप कहती हैं कि चुनाव सत्य और रसातल के बीच है। रसातल मुंह बाये सामने दीखता है, फिर भी यह विश्वास है कि इसे मार्ग से हटा लिया जायेगा।

विश्वास उचित ही है।

संदेश केवल उन्हीं के लिये है जो अभीतक सोये हुए हैं और अपनी नींद से काफी संतुष्ट हैं।

आपके नव वर्ष के संदेश में "रसातल" का क्या अर्थ है, या दूसरे शब्दों में, साधक को किस चीज से डरना चाहिये ?

ठीक इस समय बहुत बड़ा तनाव है। सबने ऐसी स्थिति ले ली है मानों युद्ध आरंभ करनेवाले हों। वह अंधा आवेग है जिसे मनुष्य अपने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में ले आते हैं।

इस सबके मूल में एक भय है, व्यापक अविश्वास है, और वह है जिन्हें वे अपने "हित" कहते हैं (धन, व्यापार)—इन तीन चीजों का संयोजन ही है। जब मानवता के इन तीन निम्नतम आवेगों को सक्रिय किया जाता है, उन्हींको मैं रसातल कहती हूं।

जब व्यक्ति ने भगवान् को पाने के लिये अपने जीवन का उत्सर्ग करने का निश्चय कर लिया हो, और अगर वह निष्कपट हो, यानी अगर संकल्प निष्कपट हो और उसका निष्कपटता के साथ पालन किया जाये तो बिल्कुल किसी चीज से भयभीत न होना चाहिये, क्योंकि उसके साथ जो हो रहा है या होगा वह सब उसे इस सिद्धि तक छोटे-से-छोटे मार्ग द्वारा ले जायेगा।

भागवत कृपा का यह उत्तर है। लोग यह मानते हैं कि भागवत कृपा का अर्थ है, तुम्हारे सारे जीवन में सब कुछ सरल और सहज बना दिया जाये। यह सच नहीं है।

भागवत कृपा तुम्हारी अभीप्सा की चरितार्थता के लिये कार्य करती है और सबसे अधिक तत्पर, सबसे तेज चरितार्थता पाने के लिये सभी चीजों की व्यवस्था की जाती है—अतः डरने की कोई बात नहीं।

भय कपट से आता है। अगर तुम आरामदेह जीवन, अनुकूल परिस्थितियां इत्यादि चाहो, तो तुम शर्तों और सीमाओं को लगाते हो, और तब तुम भयभीत हो सकते हो।

लेकिन इसका साधना के साथ कोई संबंध नहीं है।

स्फुट वचन

मेरा बालक डर नहीं सकता।

*

जो भगवान् का है वह किससे डर सकता है ? क्या वह विस्तृत होती हुई अंतरात्मा, प्रदीप्त भौंहों के साथ उस मार्ग पर नहीं चल सकता जो भगवान् ने उसके लिये बना दिया है, वह चाहे जैसा हो, चाहे उसकी सीमित बुद्धि के लिये एकदम दुर्बोध्य क्यों न हो ?

*

. . . जैसे ही अहंकार समर्पण कर देता और अपनी गद्दी छोड़ देता है वैसे ही भय विलीन होकर अपना स्थान इस शांत आश्वासन को दे देता है कि कुछ भी असंभव नहीं है।

*

निर्भय होकर अपने-आपको मेरी भुजाओं में छोड़ दो और विश्वास रखो कि कोई चीज तुम्हें हानि नहीं पहुंचा सकती। मेरी शक्ति और मेरी सुरक्षा हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

*

भय हमेशा बहुत बुरा सलाहकार होता है।

*

भय सबसे बुरी बीमारी से भी खराब है।

*

भय विरोधी शक्तियों की खोज है जिन्होंने उसका अन्वेषण जगत् के प्राणियों, मनुष्यों और पशुओं पर अधिकार करने के सबसे अच्छे साधनों के रूप में किया है।

*

जो **शुद्ध** हैं, यानी ऐकांतिक रूप से भागवत प्रभाव में हैं, उन्हें कोई डर नहीं होता।

१५ अगस्त १९५० का संदेश

हमारी साधना ऐसी स्थिति तक जा पहुंची है जहां हम अधिकतर अवचेतना और निश्चेतना से ही व्यवहार रखते हैं। परिणामस्वरूप भौतिक निर्णय ने प्रमुख स्थान ले लिया है और मार्ग में कठिनाइयों को बढ़ा दिया है, इनका सामना करना होगा बढ़ते साहस और दृढ़ निश्चय के साथ।

बहरहाल जो कुछ हो, तुम जो भी करो, **भय को** अपने ऊपर आक्रमण न करने दो। उसका जरा-सा स्पर्श होते ही प्रतिक्रिया करो और सहायता को पुकारो।

तुम्हें यह सीखना होगा कि अपने शरीर के साथ एकात्म न हो जाओ और उसके साथ एक छोटे बच्चे की तरह व्यवहार करो जिसे यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता होती है कि उसे डरना नहीं चाहिये।

भय सभी शत्रुओं से सबसे बड़ा शत्रु है और हमें यहां, हमेशा के लिये उसपर विजय पा लेनी चाहिये।

*

. . . अगर तुम अपने अंदर अपनी अंतरात्मा के साथ—अर्थात् अपनी सत्ता के सत्य के साथ—संपर्क को विकसित होने दो और अगर तुम हमेशा यह कोशिश करो कि तुम जो कुछ सोचते हो, जो कुछ कहते हो, जो कुछ करते हो उसे इस गभीर सत्य की अधिकाधिक अभिव्यक्ति होना चाहिये तो तुम अपने भय पर विजय पा लोगे।

जब तुम सचेतन रूप से इसमें निवास करोगे, तब तुम अपनी सत्ता के किसी भी क्षेत्र में किसी भी चीज से न डरोगे क्योंकि तुम उस वैश्व परम सत्य के साथ एकात्म हो जाओगे जो जगत् पर शासन करता है।

*

डर की कोई चीज ही नहीं है, सब कुछ प्रभु है। प्रभु के सिवा कुछ है ही नहीं। केवल प्रभु का ही अस्तित्व है और जो कुछ हमें डराने की कोशिश करता है वह प्रभु का मूर्खतापूर्ण और निरर्थक मुखौटा है।

*

रही बात तुम्हारे ऊपर की ओर खुलने की—तो किसी चीज से न डरो, सब कुछ तुम्हारी सचाई पर निर्भर है। अगर तुम एकमात्र भगवान् को ही चाहते हो, कोई निजी लाभ नहीं चाहते हो तो एकमात्र भगवान् ही तुम्हारी पुकार का उत्तर देंगे, विरोधी उत्तरों का खतरा तभी होता है जब तुम्हारा उद्देश्य अहंकारपूर्ण हो।

मेरे आशीर्वाद सहित।

जिस मरने से जग डरे

(मृत्यु के बारे में एक कहानी)

आज महादेवी वर्मा की कविता पढ़ानी थी : "तू धूल भरा ही आया, ओ चंचल-जीवन बाल, मृत्युजननी ने अंक लगाया . . ."

मैं बैठा सोच रहा था : "उफ़ ! पढ़ाना भी कितना कठिन काम है। सोलह-सतरह वर्ष के कोमल बालक-बालिकाओं को मृत्यु के बारे में क्या और कैसे बताऊंगा ?"

मैंने मन-ही-मन चित्र बनाना शुरू किया, एक कोमलांगी प्रौढ़ा मकान की देहली पर खड़ी है। बाहर से एक छोटा-सा नटखट बालक दौड़ता हुआ अंदर आता है। हाथ-मुंह पर मिट्टी और पसीने के मिलने से अच्छा खासा गारा तैयार हो गया है, कपड़े उस अवस्था को पहुंच चुके हैं कि उन्हें और मैला करना संभव नहीं है। मां ने मिट्टी, मैल किसी की परवाह नहीं की। बालक को अपने अंक में भर लिया। उसे नहलाया, धुलाया और खाना खिलाकर फिर से खेल-कूद के लिये तैयार कर दिया। जीव ने फिर से नया जन्म पा लिया। स्नेहमयी मृत्यु ने उसके सभी कलुष धोकर नये उत्साह के साथ कर्मभूमि में भेज दिया।

ऊं हूं। इतना काफी नहीं होगा। इसी प्रसंग में कबीर का यह उद्धरण भी दिया जा सकता है : "जिस मरने से जग डरे मेरे मन आनंद", और चकबस्त की वे पंक्तियां जिनमें उन्होंने कहा है कि पंच तत्त्वों का सामंजस्य के साथ रहना ही जीवन है और सामंजस्य का बिगड़ जाना ही मृत्यु है :

जिंदगी क्या है अनासिर का जुहूरे तरतीब।
मौत क्या है इन्हीं अजजा का परेशां होना॥

लेकिन मेरे सामने कई चेहरे ऐसे होंगे जिन्होंने अपनी इस छोटी-सी अवस्था में ही अपने हिस्से से बहुत अधिक दुःख पा लिया है, उनके आंसू सूख चुके हैं। वे मूक भाषा में कहते हैं :

आगे आती थी हाले दिल पे हंसी।
अब किसी बात पर नहीं आती।

साथ ही कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने कभी गुलाबों की सेज छोड़ कर जमीन पर पांव नहीं रखा। उन्हें बिवाई फटने की बात सुनकर ही तकलीफ होती है, चेहरा लाल-सुर्ख हो जाता है और सीपों से मोती झांकने लगते हैं। उनमें से एक ने अभी कुछ दिन पहले ही तो मुझसे कहा था, "मेरे लिये स्वर्गवास का मतलब कुछ नहीं है। मैं तो यही मानती हूं कि कोई कलकत्ता जाता है, कोई बंबई जाता है, कोई लँबी छलांग लगाता है तो लंदन और न्यूयार्क जा पहुंचता है, इसी तरह स्वर्ग भी कोई देश-विदेश होगा जिसके सौंदर्य और आकर्षण से बंधकर आदमी लौट नहीं पाता।"

मैं सोच रहा था कि इस सम्मिलित वर्ग को मृत्यु के बारे में क्या बताया जा सकता है और कैसे। मैं शुष्क दार्शनिक भी नहीं बनना चाहता और भावुक कवि भी नहीं, फिर यह समस्या कैसे सुलझे ? मैं इसी उधेड़-बुन में था कि अचानक वंदना ने धम से प्रवेश किया और बोली :

"तार आया है कि मेरी दादी का स्वर्गवास हो गया।"

उसने बात बड़े ही मामूली ढंग से कही थी जिससे लगता था कि या तो वह इसका पूरा मतलब नहीं समझती या जन्म-मरण की समस्या की तह तक पहुंच कर समानता प्राप्त कर चुकी है। मैंने जरा कुरेदने की कोशिश की। वह कह उठी :

"मैं आपका मतलब समझ गयी। दादी मुझे बहुत प्रिय थीं परंतु मुझे उनके मरने का दुःख नहीं हो रहा। जानते हैं क्यों ? यही जानने के लिये तो आप उत्सुक हो रहे हैं।

"कुछ ही दिन पहले की बात है। पिताजी की चिट्ठी आयी थी कि दादी बहुत बीमार हैं, देखना चाहो तो आकर देख जाओ। इसके बाद शायद अवसर न मिले। चिट्ठी पढ़कर मैं शोक-सागर मैं डूब गयी। दादी, मेरी प्यारी दादी दुनिया में नहीं रहेंगी, मैंने सोचा, आह ! यह मौत क्यों आती है ? क्या इससे बचने का कोई उपाय नहीं है ? यही सोचते-सोचते मेरी आंख लग गयी।

"मैंने देखा कूड़े-कबाड़ का एक अंबार लगा है। कहीं प्राण के चिह्न नहीं, चारों ओर मुर्दनी छायी है। अचानक किसीने उसमें प्राण फूंक दिया और नाना प्रकार के जीव कुलबुलाने लगे। यह धरती पर जीवन का उदय था।

"जानते हैं, इसके बाद मैंने क्या देखा ? मैंने अपना बहुत बड़ा रूप देखा। जिसे आप छोटी-सी वंदना कहते हैं वह कम-से-कम बीस फुट ऊंची थी और उसमें से एक तेज प्रसारित हो रहा था। हां, तो मैंने नीचे झुककर देखा हजारों जीवाणु पैदा होते जा रहे थे और उनकी संख्या क्षण-क्षण बढ़ रही थी। वे आपस में एक-दूसरे को धकेल कर अपने लिये जगह बना रहे थे। कभी एक-दूसरे को निगल जाते और कभी फटकर औरों को जन्म दे देते।

"मैं काफी देर तक खड़ी इस दृश्य को देखती रही। मैंने कुछ जीवाणुओं को हाथ में उठा लिया। उन्हें मानों गृहयुद्ध से सुरक्षा मिल गयी और उन्होंने आकार में बढ़ना शुरू किया। उनके शरीर जेली के जैसे थे। वे अपने-आप बढ़ते जा रहे थे। उनके अंदर एक बाढ़-सी आ रही थी। लेकिन इसके साथ-ही-साथ उनके शरीर कुछ कठोर-से, कुछ शुष्क-से होते जा रहे थे। कुछ देर के बाद मैंने देखा (अभी समय का जन्म नहीं हुआ था, इसलिये मैं नहीं कह सकती कि कितना समय लगा होगा इसमें), उनके शरीर बढ़ने की प्रक्रिया तेज होने के कारण तड़कने लग गये और फिर टूटकर पीछे रह गये। उनके अंदर जो चीज बढ़ रही थी (वह जीवन की बूंद) वह बढ़ती चली गयी, उसने अपने चारों ओर कुछ और द्रव्य इकट्ठा करके नया शरीर बना लिया और लगा बढ़ने।

"इस बार भी वही नाटक दोहराया गया। फिर से शरीर जीव की प्रगति में साथ न दे सका और उसे तड़क कर टूट जाना पड़ा। शायद यही मृत्यु का पहला रूप था। लेकिन अभी इन जीवों को दुःख-सुख का भान न था, अपने पराये का अभी तक ख्याल भी न आया था इसलिये यह मृत्यु दुःखदायिनी नहीं थी। जैसे-जैसे जीव बढ़ता जाता था वैसे-वैसे शरीर बनते-बिगड़ते जाते थे। शायद उन दिनों की अवस्था के लिये कहा जा सकता है :

लाई हयात आये कजा ले चली चले।
अपनी खुशी न आये न अपनी खुशी चले।"

संकोचशील वंदना का यह अबाध भाषण सुनकर मैं हतप्रभ-सा रह गया। मैं देख रहा था कि पढ़ी हुई या सुनी हुई बातों को दोहराने में और अपनी अनुभूति सुनाने में क्या फर्क है। वह सांस लेने के लिये रुकी और मेरी सांस रुकने लगी कि कहानी का अंत तो नहीं आ गया।

लेकिन चिंता की कोई बात न थी। वंदना के होठ फड़के और उसने फिर से कहना शुरू किया : ''मैंने जो जीवाणु उठाये थे वे आकार में बढ़ते जा रहे थे और मेरे लिये उन्हें रखना भारी पड़ रहा था। एक-एक नन्हा जीवाणु अब बढ़कर ह्वेल मछली जैसा हो गया था। प्रक्रिया वही थी, पुराने शरीर टूटते और नये बनते जाते थे। हर नया आकार अपनी नयी विशेषता लिये आता था। सच मानिये, इस दृश्यावली में मैंने मानों चौबीस अवतारों की कहानी मंच पर देख ली। हर अवतार मानों विकासक्रम की एक नयी सीढ़ी का प्रतिनिधि था। शुरू-शुरू में जीव या चैत्य पुरुष एक छोटे-से स्फुलिंग के रूप में दिखाई देता था, मनुष्य की स्थिति तक पहुंचते-पहुंचते उसने मन, प्राण आदि के कई आवरण पहन लिये। चैत्य पुरुष चैत्य लोक से यहां आते-आते बीच में प्राण और मन के कई लोकों की यात्रा करता था और हर जगह से वहां की निशानी के रूप में एक आवरण अपना लेता था।

''लेकिन एक मजेदार चीज देखी। हम जब कोई कपड़ा पहनते हैं तो कपड़ा हमारे ऊपर अधिकार नहीं जमा लेता—हां, बहुत अमीराना ठाठ हों तो और बात है। परंतु वहां मन और प्राण चैत्य पर इस तरह छा जाते थे मानों वही सब कुछ हों। हमने देखा है कि मजबूत लोग यह प्रमाणित करने की परवाह नहीं करते कि वे मजबूत हैं, कमजोर को ही इसकी चिंता खाये जाती है।

''मैंने देखा कि जिनके मन और प्राण अपना हठ छोड़कर चैत्य के साथ गठबंधन कर लेते हैं वे विकास की ऊंची सीढ़ी पर जा पहुंचते हैं, लेकिन जो अपना बड़प्पन दिखाने में लगे रहते हैं वे जहां-के-तहां रह जाते हैं।

''आप सोच रहे होंगे कि मैं क्या बकवास कर रही हूं। सच मानिये, मैंने ये सब चीजें देखी हैं और स्वप्न में नहीं, अर्ध-जाग्रत् अवस्था में। सारी चीजें एक साथ चित्र पर आती गयीं। वर्णन में जितना समय लग रहा है इसका चौथाई

समय भी न लगा होगा देखने में और फिर जो दृश्य देखे थे उनका वर्णन संभव है क्या ?

"खैर, जब मैंने आदमियों को देखना शुरू किया तो एक और दृश्य था। हर एक के अंदर कहीं जाग्रत् और कर्मठ और कहीं छिपा हुआ चैत्य पुरुष था। यह चैत्य पुरुष ही उसका सबसे प्रधान व्यक्तित्व होता है, पर यह एक भौतिक शरीर में निवास करता है। मैंने देखा, यह शरीर अत्यंत कोमल और लचीला होता है लेकिन साथ ही जरा मूढ़ भी। वह मन और प्राण को अपना स्वामी मानता है और उनके नचाये नाचता जाता है। मन और प्राण डाकू बनकर इस बेचारे को लूटते रहते हैं। अपनी-अपनी सनक की तुष्टि के लिये उसका उपयोग करते रहते हैं, वह उनके आगे दबता चला जाता है, यहांतक कि वह अपना सब कुछ खो बैठता है और एक चूसे हुए आम की तरह बेकार हो जाता है। चैत्य पुरुष नये-नये अनुभव प्राप्त करने में लगा रहता है।

"उस समय मेरी आंखों में शायद ऐक्सरे-मशीन लगी थी। मैं साधु और असाधु कहानेवाले सभी तरह के लोगों के आर-पार देख रही थी। मुझे सब के अंदर शुद्ध पवित्र अग्नि जैसा चैत्य पुरुष दिखायी दिया। हां, कहीं उसमें अधिक विकास के कारण ज्यादा प्रकाश था और कहीं कम, उनकी साधुता और असाधुता मुख्य रूप से प्राण और कुछ हद तक मन के कारण थी। जहां मन, प्राण और शरीर चैत्य पुरुष के साथ कदम मिलाकर चल रहे थे वहां विकास की गति तेज थी। जहां मन और प्राण का ही राज था वहां अफरा-तफरी फैली हुई थी।

"मैंने देखा विकास यहां का मूलमंत्र था। जो चैत्य के साथ थे उनकी गति तेज थी, वे बिना विशेष कठिनाई के आगे बढ़े चले जा रहे थे, जो अपनी मनमानी चला रहे थे उन्हें भी रोते-झींकते, गिरते-पड़ते आगे घिसटना पड़ रहा था। मन और प्राण काफी लचीले होने के कारण अपने-आपको परिस्थितियों के अनुसार ढाल लेते थे पर बेचारा शरीर अपने-आपको न बदल पाता था और पीछे रह जाता था। यहां भी वही पहले की चीज दिखायी दी। मैंने पहले बताया था कि जब तिमियों का शरीर उनकी आंतरिक प्रगति का साथ न दे पाता था तो वे उस पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर अपना लेती थीं।

"यहां भी कुछ वैसा ही नाटक खेला जा रहा था। जिनके शरीर आंतरिक सत्ता के साथ मिल-जुल कर न चल पाते थे, जिनके मन, प्राण, शरीर अपनी-अपनी तुरही बजाते रहते थे उन्हीं में रोग, शोक, दुःख का डेरा पड़ता था। जब शरीर कदम मिलाने में असमर्थ हो जाता था तो उसे पुराने जूते की तरह पीछे छोड़कर बाकी लोग आगे चल पड़ते थे। मानव भाषा में इसीको मृत्यु कहते हैं। इससे शरीर का तो नाश हो जाता है पर अंदर के जीव का बाल भी बांका नहीं होता।

"वहां मैंने एक और मजेदार चीज देखी। बहुत-से जीव अपने शरीर छोड़कर आगे जाने की कोशिश कर रहे थे पर सूक्ष्म बेड़ियां उन्हें रोक रही थीं और उनकी यात्रा को कठिन बना रही थीं। मैंने नजदीक जाकर पता लगाने की कोशिश की कि मामला क्या है। जानते हैं मैंने क्या देखा? सगे-संबधियों का रोना-धोना, उनका शोक ही बेड़ियां बनकर इन जीवों के मार्ग को रोक रहा था।

"उसी समय मैंने देखा कि मेरी दादी अपना शरीर छोड़कर निकल रही हैं और मैं बड़ी शांत सद्भावना के साथ उनकी सहायता करने में, उनके मार्ग को सरल बनाने में लगी हूं। मुझे एक दिव्य संगीत-सा सुनाई दिया :

"मृत्यु हमारे जीवन वन में,
विचरण करती है स्वच्छंद,
व्यस्त हमारा श्वास-श्वास ले
मृत्यु माधुरी अति सानन्द।

क्यों डरते हो उससे भाई?
देखो तो उस मुख का मोद,
हंसने से जो हुआ गुलाबी,
दमक रहा है जो सविनोद।

रूपवती अरु दयावती वह
एक कुमारी अति अनुकूल,

वर्षा-धौत मधुर उपवन में
चुनती है जो ताजे फूल।

जीवन-जन्य उघाड़ देती वह
ज्योर्तिमय लोकों के द्वार,
फिर भी उस शोभन युवती से
डरते हो तुम कितना यार।

क्या कारण यह, डाल मरोड़ी
भोगेगी पीड़ा अनिवार्य,
हाथ मृदुलतम हीन करें क्या
शोभा को हरने का कार्य ?

अथवा यह कि ढलक पड़ता है
पुष्प-हीन वृन्त परिम्लान,
अभी-अभी जो था अति सुंदर
लगता है वह मृतक समान ?

अथवा यह कि उघड़ते फाटक
की कर्कश ध्वनि से भयभीत
दहल उठा है हृदय तुम्हारा,
साहस-विरहित, निर्बल जीव ?

मृत्यु जानते हो तुम जिसको
वह तो केवल वस्त्र उतार
होना खड़ा अनंत द्वार पर
लग्न-वेश-भूषा को धार।"

(श्रीअरविंद की एक कविता का अनुवाद)

"वहां से निकलकर दादी कुछ प्राणमय मार्गों में से गुजरीं। यहां भी मेरी शांति और मेरी प्रार्थना ने उनकी मदद की। वे भिन्न-भिन्न लोगों की कल्पनाओं और उनके विश्वासों के द्वारा बने स्वर्ग-नरक आदि को देखती हुई आगे बढ़ गई, बहुतों के प्राण इन्हीं में भटक रहे थे। ऐसा लगता था कि दादी के चैत्य पुरुष ने शीघ्र ही कहीं जन्म लेने का निश्चय कर लिया था और वह इधर-उधर घूमे बिना अपने प्राण और मन के आवरणों को साथ लिये आगे बढ़ गया।

"वहां दूसरी सत्ताओं को देखा। उन्हें नये जन्म की कोई जल्दी नहीं थी। उनके चैत्य अपने आवरणों को मन और प्राण-लोक में छोड़कर अपने-आप चैत्य-लोक में विश्राम करने जा रहे थे। कुछ के प्राण, प्राण की गलियों में तड़प रहे थे। उन्हें दूसरे प्राणी नोच-नोच कर खाने में लगे थे। उन्हें देखकर बड़ी दया आयी। पता लगाने की कोशिश की तो मालूम हुआ उन्होंने धरती पर रहते हुए आत्म-हत्या की थी और परिणामस्वरूप अपने चारों ओर एक घोर वातावरण तैयार कर लिया था, यह सब उसी का फल है। यहीं मुझे इस बात का पता लगा कि स्वर्ग-नरक कोई अलग लोक नहीं है। मनुष्य की अपनी कल्पना, उसकी पैदा की हुई परिस्थितियां और उसके चारों ओर का वातावरण मिलकर इनका निर्माण करते हैं।

"वहां से लौटते हुए मार्कण्डेय मिल गये। मैंने उनसे अमरता का रहस्य पूछा। उन्होंने कहा : "जड़वस्तुओं में समय के साथ विकार आ ही जाता है। जब शरीर चेतना के विस्तार में बाधक बनता है तो उसका छूट जाना जरूरी हो जाता है। अगर उच्चतर चेतना आकर शरीर के जड़-तत्त्वों को भी लचीला बना ले, वे भी अंतरात्मा की आवश्यकता के अनुसार बदल सकें तो बुढ़ापा और मृत्यु दोनों भूतकाल की चीजें बन जायें। लेकिन यह काम बहुत कठिन है; अतिमानस चेतना के सिवाय और किसी के बस का नहीं।"

"इतना कहकर मार्कण्डेय अपने रास्ते चले गये और मैं अपने शरीर में लौट आयी। लेकिन अब भी मुझे वह संगीत सुनायी दे रहा था जो कहता था : जन्म और मरण, मरण और जन्म ये दो शब्द युगों से हमारी चेतना में एक-दूसरे के विरोधी बने बैठे हैं। आज मैं रहस्य जान गयी हूं। सत्य प्रकट हो गया है। केवल जीवन का अस्तित्व है, मृत्यु जीवन का ही एक मुखौटा है।

जीवन अपने-आपसे आंख-मिचौनी खेलने के लिये मृत्यु का वेश बना लेता है। तभी से सोच रही थी कि आपके यहां आकर यह सब सुनाऊं और आपसे पूछूं कि यह सब क्या है, आपके शास्त्र क्या कहते हैं, पर समय नहीं मिला। दादी सचमुच सिधार गईं और मैं घर के झमेलों में लग गयी।''

ये सारी बातें सुनकर मुझे काठ-सा मार गया। मैं सोच रहा था मैं इसे बता ही क्या सकता हूं ?

ISBN 81-7060-059-6

Rs. 17.00